ज्येष्ठ-आषाढ़ वीरनि०सं०२४६६

जून-जुलाई १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण ८-९

वार्षिक मूल्य ३ रु०

सम्पादक—

जुगलकिशोर मुख़्तार

अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—

तनसुखराय जैन

कनॉट सर्कस पो० बो० नं० ४८ न्यू देहली।

फूलसे

[श्री घासीराम जैन]

चार दिनकी चाँदनीमें फूल! क्योंकर फूलता है ?
बैठकर सुखके हिंडोले हाय! निश दिन झूलता है!

आयगा जब मलय पावन
ले उड़ेगा सुख सुवासित,
हाथ मल रह जायँगे माली—
बनेगा शून्य उपवन !
फिर बता इस क्षणिक जीवनमें अरे क्यों फूलता है?

कर रहा शृँगार नव नव
नित्य नित्य सजा सजाकर
गा रहा आनन्द-धुरपद
प्रेम-वीणाको बजाकर ।
कालकी इसमें सदा रहती अरे प्रतिकूलता है!

आज तुम सुकुमारतामें—
मग्न हो निश दिन निरंतर।
एक क्षणभरमें अरे !
हो जायगा अति दीर्घ अन्तर !
है यही जगरीत क्षण क्षण सूक्ष्म और स्थूलता है!

आज जो हर्षा ,रही
पाकर तुझे सुकुमार डाली,
कल वही हो जायगी
सौभाग्यसे बस हाय खाली!
देखकर लाली जगतकी काल निशदिन झूलता है!

आज जो तेरे लिये
सर्वस्व करते हैं निछावर,
कल वही पद धूलमें
तेरे लिये फेंकें निरंतर
स्वार्थ-मय लीला जगतकी मूर्ख! क्योंकर हूलता है!

विश्वका नाटक क्षणिक है
पलटते हैं पट निरंतर
आज जो है कल उसी में—
हो रहा सुविशाल अंतर !
है अभी अज्ञात इसमें "चन्द्र" क्या निर्मूलता है ?

चार दिनकी चांदनीमें फूल क्योंकर फूलता है ?

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

❁ विषय-सूची ❁

				पृष्ठ
१.	फूलसे (कविता)—	[श्री घासीराम जैन 'चन्द्र'		टाइटिल पर
२.	पात्रकेसरि-स्मरण	....	...	४८१
३.	धर्मका मूल दुःखमें छुपा है	[श्री जयभगवान वकील	...	४८२
४.	तामिल भाषाका जैन-साहित्य	[प्रो० ए. चक्रवर्ती	...	४७८
५.	जैनागमोंमें समय-गणना	[श्री अगरचन्द नाहटा	...	४९४
६.	यति-समाज	[श्री अगरचन्द नाहटा	...	४९८
७.	बावली घास	[श्री हरिशंकर शर्मा	...	५१०
८.	अर्थप्रकाशिका और पं० सदासुखजी	[पं० परमानन्दजी	...	५१४
९.	जैनियोंकी दृष्टिमें बिहार	[श्री पं० के. भुजबली शास्त्री	...	५२१
१०.	परिग्रहपरिमाण व्रतके दास दासी गुलाम थे	[श्री नाथूराम प्रेमी	...	५२९
११.	अमर मानव	[श्री सन्तराम बी.ए.	...	५३३
१२	भूल स्वीकार	[श्री सन्तराम बी. ए.	...	५३५
१३.	गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी त्रुटि-पूर्ति	[पं० परमानन्द	...	५३७
१४.	धर्म बहुत दुर्लभ है	[श्री जयभगवान वकील	...	५४५

विनीत प्रार्थना

पिछले माह प्रेसकी अव्यवस्था और प्रबन्ध आदिमें परिवर्तनके कारण 'अनेकान्त' प्रकाशित नहीं हो सका। हमारे लिये यह प्रथम अवसर है कि जब अनेकान्त अपने कृपालु पाठकोंके पास निश्चित समय पर नहीं पहुँचा। अन्यथा हर माहकी अंग्रेजी २८ ता०को डिस्पैच हो जाता है। यह संयुक्त किरण लगभग प्रस्तुत पृष्ठों से दूनी होनी चाहिये थी किन्तु यथा समय मैटर न मिलनेके कारण इतने ही पृष्ठोंकी यह संयुक्त किरण प्रकाशित की जा रही है। इन पृष्ठोंकी पूर्ति आगामी तीन किरणोंमें अवश्य कर दी जायगी ऐसी विनीत प्रार्थना है।

—व्यवस्थापक

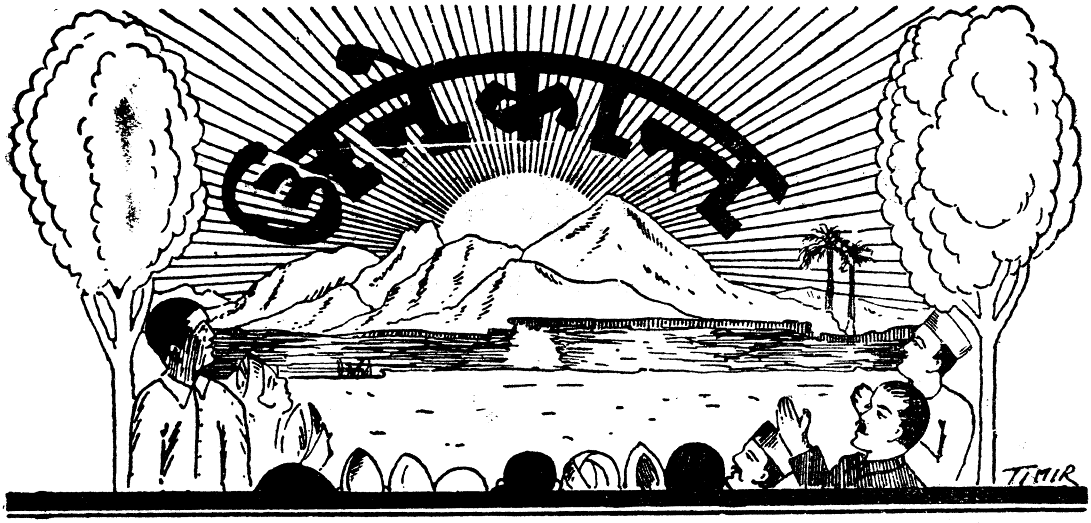

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
ज्येष्ठ, आषाढ़-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं०२४६६, विक्रम सं०१९९७ | किरण ८-९

पात्रकेसरि-स्मरण

भूभृत्पादानुवर्ती सन् राजसेवापराङ्मुखः ।
संयतोऽपि च मोक्षार्थी भात्यसौ पात्रकेसरी ॥—नगरताल्लुक-शिलालेख नं०४६

जो राजसेवासे पराङ्मुख होकर—उसे छोड़कर—मोक्षके अर्थी संयमी मुनि बने हैं, वे पात्रकेसरी (स्वामी) भूभृत्पादानुवर्ती हुए—तपस्याके लिये गिरिचरणकी शरणमें रहते हुए—खूब ही शोभाको प्राप्त हुए हैं।

महिमा सपात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत् ।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम् ॥ —श्रवणबेलगोल-शिलालेख नं०५४

जिनकी भक्तिसे पद्मावती (देवी) 'त्रिलक्षणकदर्थन' करनेमें—बौद्धों द्वारा प्रतिपादित अनुमान-विषयक हेतुके त्रिरूपात्मक लक्षणका विस्तारके साथ खण्डन करनेके लिये 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक ग्रंथके निर्माण करनेमें—जिनकी सहायक हुई है, उन श्रीपात्रकेसरी गुरुकी महिमा महान् है—असाधारण है।

भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः ।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥ —आदिपुराणे, जिनसेनः

भट्टाकलंक और श्रीपाल आचार्योंके अतिनिर्मल गुणोंके साथ पात्रकेसरी आचार्यके अतिनिर्मल गुण भी विद्वानोंके हृदयों पर हारकी तरहसे आरूढ हैं—विद्वजन उन्हें हृदयमें धारणकर अतिप्रसन्न होते तथा शोभाको पाते हैं।

विप्रवंशाग्रणीः सूरिः पवित्रः पात्रकेसरी ।
स जीयाज्जिनपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ॥—सुदर्शनचरित्रे, विद्यानन्दी

वे पवित्रात्मा श्रीपात्रकेसरी सूरि जयवन्त हों—लोकहृदयों पर सदा अपने गुणोंका सिक्का जमानेमें समर्थ हों—जो ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होकर उसके अग्र नेता थे और (बादको) जिनेन्द्रदेव के पद-कमलोंका सेवन करने वाले असाधारण मधुमक्ष (के रूपमें परिणत हुए) थे।

धर्मका मूल दुःखमें छुपा है।

[ले०—श्री जयभगवान जैन बी.ए. एलएल. बी. वकील]

जीवनकी दो मूल अनुभूति—

शैशव-कालमें जीवन उज्ज्वल, अद्भुत, विस्मयकारी लीलामय दिखाई देता है और जगत आनन्दकी रङ्गभूमि। यहाँकी हरएक चीज सुन्दर, सौम्य और आकर्षक प्रतीत होती है। जी चाहता है कि यहाँ हिलमिल कर बैठें, हँस-हँस कर खेलें, रोष तोषसे लड़ें और छलक छलक कर उड़ जायें।

परन्तु ज्यों ज्यों जीवनकी गति प्रौढ़ताकी ओर बढ़ती है, यह रङ्गभूमि और उसकी ललाम लीला डरावनी और घिनावनी मूर्ति धारण करती चली जाती है। पद पद पर भान होने लगता है—जीवन दुःखमय है*, जगत निष्ठुर और क्रूर है, यहाँ मनका चाहा कुछ भी नहीं, सर्व ओर पराधीनता है, बहुत परिश्रम करने पर भी इष्टकी प्राप्ति नहीं और बहुत रोक थाम करने पर भी अनिष्टकी उपस्थिति अनिवार्य है।

यह जगत निस्सार है, केवल तृष्णाका हुंकार है। उसीसे उन्मत्त हुआ जीवन अगणित बाधा, अमित वेदना, असंख्यात आघात-प्रघात सहता हुआ संसार-वनमें घूम रहा है, वरना यहाँ सन्तुष्टिका, सुख शान्तिका कहीं पता नहीं। वही अपूर्णता, वही तृष्णा, वही वेदना हरदम बनी है। यह लोक-तृष्णा पूर्तिका स्थान नहीं, यह निर्दयी मरीचिका है। यह दूर दूर रहने वाला है। यह नितान्त अग्राह्य है। यह झूठी आशाके पाशोंसे बान्ध बान्ध कर जीवनको मृत्युके घाट उतारता रहता है।

यह जगत मृत्युसे व्याप्त है ❀। सब ओर क्रन्दन और चीत्कार है। लोक निरन्तर कालकण्ठ में उतरा चला जा रहा है। भूमण्डल अस्थिपञ्जर से ढका है। पर, रुण्डमुण्ड पहिने हुए कालका अट्टहास उसी तरह बना है। यहाँ जीवन नितान्त अशरण है †।

यहाँ कोई चीज स्थायी नहीं, जो आज है वह कल नहीं, अंकुर उदय होता है, बढ़ता है, पत्र पुष्पसे सजता है, हँसता है, ऊपर को लखाता है; परन्तु अन्तमें धराशायी हो जाता है। यहाँ भोगमें रोग बसा है, यौवनमें जरा रहती है, शरीरमें मृत्युका वास है। यहाँकी सब ही वस्तुएँ भयसे ढकी हैं ‡।

प्रौढ अनुभूति और धर्म मार्ग—

यह है प्रौढ अनुभूति, जो मानव समाजमें

* मज्झिमनिकाय—१४१वाँ सूत्त

❀ "यदिदं सर्वं मृत्युना ऽऽप्तं, सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं"
—बृह०उ० ३. १. ३

† द्वादशानुप्रेक्षा ॥८॥ धम्मपद २०. १६

‡ भर्तृहरि—वैराग्यशतक ॥३१॥

धर्म-मार्गकी आविष्कारक हुई है*। कोई युग ऐसा नहीं, कोई देश ऐसा नहीं जहाँ इस प्रौढ अनुभूति का उदय न हुआ हो और इसके साथ साथ जीवन के अलौकिक आदर्श और तत्प्राप्तिके लिये धर्म-मार्गका जन्म न हुआ हो। वैदिक ऋषियोंकी यह अनुभूति वैदिक साहित्योक्त यम, मृत्यु व काल विवरणमें छुपी है ※। असुर लोगोंकी यह अनुभूति प्रचण्ड भीषण रुद्र, और नाग सभ्यताके रूपमें हम तक पहुँची है। लिंगायत लोगोंमें यह रुद्रकी मूर्ति और शिवके ताण्डव नृत्यमें अङ्कित है †। और बंगालदेशके तान्त्रिक लोगोंमें काली कराली चण्डी दुर्गाके चित्रमें चित्रित है §। औपनिषदिक कालमें यही अनुभूति "ब्रह्म सत्य है और नाम-रूप कर्मात्मक जगत असत्" है इस सत्यासत्यवादमें बसी है†। यह अनुभूति आधुनिक वेदान्तदर्शनके मायावाद, तुच्छवादमें प्रकट है‡। 'महाभारत' में यही अनुभूति मेधावी ब्राह्मण पुत्रके विचारोंमें गर्भित है ¶। बौद्ध कालीन भारतमें बुद्ध भगवान द्वारा बतलाये हुये चार आर्य सत्योंमें ※ और वीर भगवान् द्वारा बतलाई हुई द्वादश भावनाओंमें※ इस अनुभूतिका आलोक होता है।

यों तो यह अनुभूति समस्त धर्म-मार्गोंकी आधार है; परन्तु निवृत्ति परक दर्शनोंकी, श्रमण-संस्कृतिकी तो यह प्राण है। इसीलिये औपनिषदिक संस्कृति, वेदान्त, बौद्ध और जैनदर्शनोंको समझने के लिये इसका महत्व अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है।

जीवनके मूल प्रश्न—

मनुष्य-जीवनमें चाहे वह सभ्य हो, या असभ्य, धनी हो या निर्धन, पण्डित हो या मूढ, पुरुष हो या स्त्री, यह अनुभूति जरूर किसी समय आती है और उसके उज्ज्वल लोकको भयानक भावोंसे भर देती है। उस आतङ्कमें वह सोचता है :—

"मैं कौन हूँ? क्या मैं वास्तवमें निरर्थक हूँ? पराधीन और निस्सहाय हूँ? क्या मेरा यह ही अन्तिम तथ्य है कि मैं मंगल-कामना करते हुये भी दुःखी रहूँ, आशा रखते हुए भी आशाहीन बनूं, जीवन चाहते हुए भी मृत्युमें मिल जाऊँ? यदि दुःख ही मेरा स्वभाव है तो सुखकी कामना क्यों? यदि यह जीवन ही जीवन है तो भविष्यकी आशा क्यों? यदि मृत्यु ही मेरा अन्त है तो अमृतकी भावना क्यों? क्या यह कामना, आशा, भावना, सब भ्रम है, मिथ्या है, मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं? क्या यह लोक ही मेरा लोक है; जहाँ इच्छाओंका खून है, पुरुषार्थकी विफलता है?

---

* A. C. Das—Rigvedic Culture 1925 p. 396.

※ अथर्ववेद १९.५३; १९.५४; ऋग्वेद १०.१८.

† R. G. Bhandarker Vaisnavesin & Saivana vesin. 1928 pages 145-151.

§ R. Chanda The Indo Aryan Races. 1916 pages 136-138.

† वृह उप० १.६.३. "आत्मो एकः सन्नेतत् जयम्"

‡ श्रीशंकाचार्य—दश श्लोकी ॥१॥

¶ महाभारत—शान्ति पर्व-१७२वाँ अध्या० ।

※ दीघनिकाय—महासति पट्ठानसुत्त।

संयुतनिकाय ५५-२-१.

※ उत्तराध्ययन अध्याय १३।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा।

क्या यह लोक ही मेरे भाग्यका विधाता है ? क्या इस पर मेरा कोई अधिकार नहीं ? क्या इससे छुटकारेका कोई साधन नहीं ? क्या कोई लोक नहीं, जहाँ स्वेच्छापूर्ति हो, आनन्दका निवास हो और अमर जीवन हो !"

धर्म मार्गकी सृष्टि—

जहाँ दुःख अनुभूतिने मनुष्य-मस्तिष्कमें जीवन जगत-सम्बन्धी इस प्रश्नावलीको, दर्शनशास्त्रकी इन गूढ समस्याओंको जागृत किया है, वहाँ इसी ने मनुष्यको इनका हल खोजनेको भी उद्यत किया है, इतना ही नहीं, इसीने मनुष्यको लोकके रूढिक मार्गोंको छोड़ अलौकिक मार्गों पर चलनेको भी विवश किया है ।

यदि इन्द्रिय-सुखोंका कभी नाश न होता, इष्ट वस्तुको पाकर उससे वियोग न होता, रोग और जरासे शरीर जर्जरित न होता, उल्लासमय यौवन सदा बना रहता—मृत्युसे जीवन तन्तुका विच्छेद न होता तो संसारमें दुखका नाम भी न होता । यदि दुःख न होता तो इच्छा-भावना भी न होती, खोज और तलाश भी न होती, उपाय और मार्ग भी न होता ।*

जहाँ अनित्यता है वहीं दुःख है । जहाँ दुख है वहीं भावना है । जहाँ भावना है वहीं आवश्यकता है । जहाँ आवश्यकता है वहीं खोज है । जहाँ खोज है वहीं मार्ग है । जहाँ मार्ग है वहीं प्राप्ति है$।

यदि प्यास न होती तो कौन खोजता जलाशय और कौन पाता जलकी शरण ? यदि सूर्य आताप न देता तो किसे भाती स्निग्ध छाया और कौन जाता छायाकी शरण ? यदि संसार अनित्य न होता, जीवन दुःखमय न होता तो कौन ढूंढता पारमार्थिक आदर्श और कौन जाता धर्मकी शरण*।

यह दुःख अनुभूति ही संसारमें धर्म की रचयिता है । यह ही उसे विश्वास दिलाती है कि जीवन निरर्थक नहीं ध्येयवान है, पराधीन नहीं स्वतन्त्र है, मरणशील नहीं अमर है । यह ही मनुष्यमें मर्त्यलोकसे घृणा और अमृतलोककी लालसा पैदा करती है‡ । यह ही मनुष्यको नीचेसे ऊपर लखाना सिखाती है । यही उसे इस कारावाससे दूर जगमगाते ज्योतिआलोकमें अपनी आशा लगानेको मजबूर करती है† । यही स्वप्नों में बैठकर उस पितृलोककी, उस व्यन्तरलोककी सृष्टि करती है । जहाँ मरने पर मर्त्यलोक चले जाते हैं । जहाँ उन्हें अपने बिछुड़े हुए पूर्व पुरुषोंसे अपने श्रद्धेय पितृगणसे भेंट होती है । जहाँ वह सब दोबारा मिल कर यमके साथ सानन्द जीवन बिताते हैं । $ यही भावनाओंमें भर कर

* सुभाषित रत्नसन्दोह ॥ ३२१ ॥

$ "For everyone that asketh receiveth and he that seeketh findeth and to him that knocketh, it shall be opened"

Bible-St Matthew, 7-8.

* (अ) सुभाषित रत्नसन्दोह ॥ ३२१ ॥

(आ) न स्नेहाच्छरणं प्रयाति भगवन् पादद्वयं ते प्रजाः
हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः ।
अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकर व्याकीर्णभूमण्डलो,
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः ॥

अनन्तकीर्ति—सामायिकपाठ—श्लोक १.

‡ ऋग्वेद—मं० १०, सू० १४, १५, १६ व १८.

† ऋग्वेद—१. १६५, १०. १०७, १०. १५४.

$ Lord Avebury-Origin of civilisation 1912 p. 209

Sir Radha Krishnan-Indian Philosophy Vol. I p. 114.

उस स्वर्गलोककी रचना करती है, जहाँ देश, जाति, और विश्वके हित, दान, सेवा करने वाले, प्राणों की आहूति देने वाले मनुष्य मर कर जन्म लेते हैं ‡। जहाँ पूजा प्रार्थना, स्तुति वन्दना, यज्ञ हवन करने वाले, भक्तजन पैदा होते हैं *। जहाँ दुःख क्लेशको सहन करने वाले, व्रत उपवासका पालन करने वाले, भव्यजन अपना धाम बनाते हैं। † जहाँ वह देवता स्वरूप अमितकाल तक स्वेच्छा-पूर्वक आकाशचारी हो विचरते हैं।

यही वेदना जीवनको बाहरसे अन्दरकी ओर आने, शान्तचित हो चिन्तवन करनेकी प्रेरणा करती है। यही जीवनको शरीर पोषण, विषयभोग, इच्छापूर्तिके रूढिक मार्गको छोड़ने, रीतिनीति, त्यागसंयम, शील-सहिष्णुता, दान-सेवा, प्रेम-वात्सल्यका मार्ग अपनानेकी शिक्षा देती है। यही जीवनमें उस दिव्य आलोकको पैदा करती है, जो रोगशोक आताप-सन्तापसे दुःखी हृदयको शान्त्वना देता है, जो दुर्दैव, अन्याय अत्याचारसे पीडित प्राणोंको धैर्य और शान्तिसे भरता है। यह दिव्य आलोक ही जीवनकी परम आकांक्षा है। इसके रहस्यका उद्घाटन ही इसके गूढ़ विचारकी पराकाष्ठा है। इसकी सिद्धि ही इसके सतत् पुरुषार्थका परम उद्देश्य है। यदि जीवनको इस आलोकसे वञ्चित कर दिया जाये, तो जीवन जीनेके क़ाबिल नहीं रहता, वह एक नीरस और भार बन जाता है।

यह सुखका लोक दुःखके पीछे छुपा है। यह अमृतका सरोवर अन्धकारसे ढका है। जो दुःखसे न डर कर इसके अन्दर मर्मको देखने वाले हैं, जो अन्धकारसे न घबराकर इसके अन्दर लखाने वाले हैं वे ही वास्तवमें सुखलोकके अमतलोकके अधिकारी हैं।

दुःख श्रेयस्कर है—

दुःख जीवनके लिये भयानक जरूर है, अरुचिकर जरूर है; परन्तु यह जीवनके लिये अनिष्टकर नहीं, बाधक नहीं, शत्रु नहीं। यह तो जीवनका परमहितैषी है, परम पुत्र है। यह जीवन को सचेत करने वाला है, उसकी वास्तविक दशा को ठीक ठीक सुझाने वाला है, उसे भूलभुलैय्या, धोके फरेबसे बचाने वाला है। यह स्वार्थी नहीं, खुशामदी नहीं, यह उसके अज्ञानसे लाभ उठा, हाँ में हाँ मिलाने वाला नहीं। यह उसके झूठे रूप की प्रशंसा कर, उसे खुश करने वाला नहीं। यह तो स्पष्ट कहने वाला है। यह दर्पण तुल्य सरल और सच्चा है। यह पुरानीसे पुरानी कल्पित मान्यताओंको मिथ्या कहने वाला है, गाढसे गाढ सत्यार्थको असत्यार्थ कहने वाला है। बड़ीसे बड़ी बुद्धिमानीको विमूढ़ता कहने वाला है। इसीलिये भयानक है। यह किरणके समान अज्ञान-तन्तुका भेद करने वाला है। यह नश्तरके समान मोहरोग पर चोट करनेवाला है। इसलिये यह अरुचिकर है।

दुःखका जीवन रचनामें वही स्थान है, जो ज्वरका स्वास्थ्य रचनामें है। ज्वर स्वयं रोग नहीं, रोगका उत्पादक नहीं, यह तो रोगकी चेतावनी है, जो अन्तःशक्तियोंको जगाती है। यह तो रोग-निरोधका उद्यम है जो शरीरको रोगसे निकाल

‡ ऋग्वेद १०. १५४. ३; गीता २.३७.
* मुण्डक उप० १. २. ९; गीता २०, २१
† तत्त्वार्थाधिगम सूत्र ६. २०

स्वास्थ्यमें स्थापन करना चाहता है। ऐसे ही दुःख स्वयं अनिष्ट नहीं; अनिष्ट का उत्पादक नहीं, यह तो अनिष्टकी चेतावनी है, जो प्राणोंको खेंच खेंच कर, हृदयको मसल मसल कर, मनको उथल पुथल कर निरन्तर मूलभाषामें पुकारता रहता है—"उठो, जागो, होशियार हो, यह जीवन इष्ट जीवन नहीं। यह जीवनकी रुग्ण दशा है, वैभाविक दशा है, बन्ध दशा है।" यह तो अनिष्ट निरोधका उद्यम है। जो यथा तथा जीवनको अनिष्टसे निकाल कर इष्टमें स्थापन करना चाहता है।

इसीलिये संसारके सब ही महापुरुषोंने, जिन्होंने सत्यका दर्शन किया है। जिन्होंने अपने जीवन को अमर किया है, जिन्होंने अपने आदर्श से विश्व हितके लिये धर्ममार्गको कायम किया है, इस दुःखानुभूतिको अपनाया है, इसके आलोकमें रहकर अन्तःशक्तियोंको लगाया है इसे श्रेयस और कल्याणकारी कहा है ❀।

जो दुःखसे अधीर नहीं होता, इससे मुँह नहीं छुपाता, जो इसे सच्चे मित्रके समान अपनाता है, इसके अनुभवोंके साथ प्रयोग करता है, इसकी आवाजको सुनता है, इसके पीछे पीछे चलता है, वह जीवन-शत्रुओंको पकड़ लेता है, वह जन्ममरण के रोगका निदान कर लेता है, वह दुःखसे सुखका मार्ग निकाल लेता है, वह मार्ग पर चलकर सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है, पूर्ण हो जाता है, अक्षय-सुखका स्वामी हो जाता है। परन्तु जो दुखकी कटुतासे डर कर चुभे हुए शूलको तनसे नहीं निकालता भीतर बैठे हुए रोगके कारणोंका बहिष्कार नहीं करता, वह निरन्तर दुःखका भोग करता रहता है।

जो दुःखसे डर कर दुःखका साक्षात् करना नहीं चाहता, उसके अनुभवोंसे प्रयोग करना नहीं चाहता, उसकी सुझाई हुई समस्याओंको हल करना नहीं चाहता, उसके जन्म देने वाले कारणों पर—उसका अन्त करने वाले उपायों पर विचार करना नहीं चाहता, जो धर्म-मार्ग पर चल कर उन कारणोंका मूलोच्छेद करना नहीं चाहता, जो केवल दुःखानुभूतिको भुलानेकी चेष्टामें लगा है वह मूढ़ अपनी ठगाईसे खुद ठगा जाता है, बार बार जन्म-मरण करता हुआ दुःखसे खेद खिन्न होता है!

यदि जीवन और जगत्के रहस्योंको समझना है, लोक और परलोकके मार्गोंको जानना है तो आत्माको प्रयोगक्षेत्र बनाओ, दुःख-अनुभवोंको प्रयोगके विषय बनाओ, इनका मथन और मनन करनेके लिये आत्मचिन्तवनसे काम लो।

जैसे कमलका मूल पंकमें छुपा है, बसन्तका मूल हिममें छुपा है, ऐसे ही धर्मका मूल दुःखमें छुपा है।

पानीपत, ता० २६—५—१९४०

❀ (अ) क, उप २. १.

(आ) तत्त्वार्थ सूत्र १. १

(इ) मनुस्मृति ६. ४७, ४८, ४७

(ई) Blessed are the poor in spirit, for their is the knigdom of heaven. Blessed are they that mourn, for they shall be comforted.

Bible-st. Matthew 5. 34.

तामिल भाषाका जैनसाहित्य

[लेखक—प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती एम. ए. आई. ई. एस, प्रिंसिपल कुंभ कोणम् कालेज]

[अनुवादक—पं० सुमेरुचन्द्र जैन दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री, बी. ए. एलएल. बी. सिवनी]

तामिल साहित्य पर सरसरी निगाह डालनेसे यह बात विदित होगी कि वह प्रारंभिक कालसे ही जैनधर्म और जैन-संस्कृतिसे प्रभावित था। यह बात सुप्रसिद्ध है कि जैनधर्म उत्तर भारतमें ही उदित हुआ था, अतएव उसका आर्य संस्कृतिसे सम्बन्ध होना चाहिये। जैन लोग कब तो दक्षिणको गए तथा किस भाँति उनका मूल तामिल-वासियोंसे सम्बन्ध हुआ, ये समस्याएँ ऐसी हैं जो अब तक भी अन्धकारमें हैं। किन्तु इन प्रश्नों पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है, यदि हम इस बात पर अपना ध्यान दौड़ावें कि सिंधुकी घाटीमें आर्योंकी अवस्थितिके आदिकालसे ही उन आर्य लोगोंमें एक ऐसा वर्ग था जो बलि-विधानका विरोधी था और जो अहिंसाके सिद्धांत का समर्थक था। ऋग्वेदके मंत्रोंमें भी इस बातको प्रमाणित करने योग्य साक्षी विद्यमान है। ब्राह्मण तरुण शुनःसेफ की—जो विश्वामित्रके द्वारा बलि किये जानेसे मुक्त किया गया था,—कथा एक महत्व पूर्ण बात है। राजर्षि विश्वामित्र तथा वशिष्टका द्वन्द्व संभवतः उस महान् विरोधके प्रारंभको बताता है जो ब्राह्मण ऋषियोंके द्वारा संचालित बलिदान-विधायक सम्प्रदाय तथा वीर क्षत्रियों द्वारा संचालित बलिविरोधी अहिंसा सिद्धान्तके बीचमें था। ऋग्वेद संहितामें भी हम ऋषभ तथा अरिष्टनेमिका उल्लेख पाते हैं, जिनमें पहले तो जैनियोंके आदि तीर्थंकर हैं और दूसरे बाबीसवें तीर्थंकर जो श्रीकृष्णके चचेरे भाई थे।

जब हम संहिताओंके कालको छोड़कर ब्राह्मण ग्रंथोंके कालमें प्रवेश करते हैं, तब हमें आर्य लोगोंके इस पृथकरणके विषयमें और भी मनोरंजक बातें मिलती हैं। इस समय तक आर्य लोग गंगा की घाटी तक चले गए थे और उन्होंने राज्य स्थापित किए थे तथा काशी, कौशल, विदेह और मगध देशोंमें अपना स्थायी निवास बनाया था। इन देशोंमें रहने वाले आर्य लोग प्रायः पौर्वात्य आर्य कहे जाते थे। ये सिंधु नदीकी तराई सम्बन्धी कुरु पांचाल देशोंमें बसने वाले पाश्चिमात्य आर्यों से भिन्न थे। ये लोग पूर्वके आर्योंको अपनी अपेक्षा हीन समझ कर हीन दृष्टिसे देखते थे, कारण उनने कुरु पांचालीय आर्योंकी कट्टरताका परित्याग किया था। पूर्वीय भाषाओंके वेत्ता यह सुझाते हैं कि संभवतः गंगाकी तराई सम्बन्धी पूर्वीय आर्य आक्रमणकारी उन आर्योंकी प्रारंभिक लहरको सूचित करते हैं, जो सिंधुकी तराईमें बसी हुई आक्रमणकारी पाश्चिमात्य जातियोंसे पूर्वदिशा की ओर भगा दिए गए थे। इस प्रकार के विचारों

का निश्चय करना आवश्यक है, जिससे दो भागों में विद्यमान कतिपय मौलिक भिन्नताओंको समझा जा सके। आर्योंके दो समुदायोंके मध्यमें विद्यमान राजनैतिक तथा सांस्कृतिक भेदोंके सद्भावको ब्राह्मण-साहित्य स्पष्टतया बताता है। अनेक अवसरों पर पूर्वीय आर्योंके विरुद्ध पूर्वीय देशकी ओर सेनाएँ ले जाई गई थीं। ब्राह्मण-साहित्यमें दो अथवा तीन प्रधान बातोंका उल्लेख है, जो सांस्कृतिक भिन्नताके लिए मनोरंजक साक्षीका काम देती हैं। काशी, कौशल, विदेह और मगधके पूर्वीय देशोंमें व्यवहार करनेके सम्बन्धमें शतपथ ब्राह्मणमें पांचाल देशीय कट्टर ब्राह्मणोंको सचेत किया गया है। उसमें बताया गया है कि कुरु पांचाल देशीय ब्राह्मणोंका इन पूर्वीय देशोंमें जाना सुरक्षित नहीं है, क्योंकि इन देशोंके आर्य लोग वैदिक विधि विधान-सम्बन्धी धर्मोंको भूल गए हैं इतना ही नहीं कि उन्होंने बलि करना छोड़ दिया बल्कि उनने एक नए धर्मको प्रारंभ किया है, जिस के अनुसार बलि न करना स्वयं यथार्थ धर्म है। ऐसे अवैदिक आर्योंसे तुम किस सन्मानकी आशा कर सकते हो, जिन्होंने धर्मके प्रति आदर-सन्मान का भाव छोड़ दिया है। इतना ही नहीं, वेदोंकी भाषासे भी जिन्होंने अपना सम्पर्क नहीं रक्खा है। वे संस्कृतके शब्दोंका शुद्धता पूर्वक उच्चारण नहीं कर सकते। उदाहरणके तौर पर संस्कृतमें जहाँ 'र' आता है वहाँ वे 'ल' का उच्चारण करते हैं।

इसके सिवाय इन पूर्वीय देशोंके क्षत्रियोंने सामाजिक महत्व प्राप्त कर लिया है, यहाँ तक कि वे अपनेको ब्राह्मणोंसे बड़ा बताते हैं। क्षत्रियोंके नेतृत्वमें सामाजिक गौरवके अनुरूप पूर्वीय आर्य लोग यह मानते हैं, कि कुरु पांचालीय वैदिकोंके द्वारा अत्यंत उच्च माने गए वाजपेय यज्ञके स्थानमें राजसूय यज्ञ श्रेष्ठ है। ये कुछ कारण, उन कारणोंमें से हैं जो पूर्वीय देशोंमें कुरु पांचालीय वैदिक ब्राह्मणोंका पर्यटन क्यों निषिद्ध है, इस विषयमें बतलाए गए हैं।

पंचविंशब्राह्मणके एक प्रमाणसे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि कुछ समय तक आर्योंके क्रियाकाण्ड विरोधी दलोंका विशेष प्राबल्य था और वे लोग इन्द्र यज्ञके, जिसमें बलि करना भी शामिल था, विरुद्ध उपदेश करते थे। जो इन्द्र-पूजा तथा यज्ञात्मक क्रियाकाण्डके विपरीत उपदेश देते थे, उन्हें मुंडित मुंड यतियोंके रूपमें बताया है। जब वैदिक दलके प्रभावसे प्रभावित एक बलशाली नरेशके द्वारा 'इन्द्र यज्ञ'का पुनरुद्धार किया गया, तब इन यतियोंका ध्वंस किया गया और इनके सिर काट करके भेड़ियोंकी ओर फेंक दिये गये थे। जैनेतर साहित्यमें वर्णित ये बातें विशेष महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ये अहिंसाधर्मकी प्राचीनताकी ओर संकेत करती हैं।

अब जैन साहित्यकी ओर देखिये, उसमें आप क्या पाते हैं? ऋषभदेवसे लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर हैं, जो सब क्षत्रियवंशके हैं। यह कहा जाता है कि आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभने पहले अहिंसा सिद्धान्तका उपदेश दिया था तथा तपश्चर्या अथवा योग द्वारा आत्मसिद्धी की ओर ज्ञानियोंका ध्यान आकर्षित किया था। इन जैन तीर्थंकरोंमें अधिकतम पूर्वीय देशोंसे सम्बन्धित हैं। अयोध्यासे ऋषभदेव, मगधसे महावीर और मध्यवर्ती बावीस तीर्थंकरोंका बहुधा

उन देशोंसे सम्बन्ध था, जो पूर्वीय आर्य देशोंमें सम्मिलित हैं। इन्होंने जिस भाषामें अपना संदेश दिया वह संस्कृत नहीं, बल्कि मागधी-प्राकृत रूप वाली संस्कृत भाषा थी। जैनियोंका प्रारम्भिक धार्मिक साहित्य प्रायः प्राकृत भाषामें है, जो तात्कालिक जनताकी बोलचालकी भाषा थी। यह स्पष्ट है कि इस उदार विभागने अपने अहिंसात्मक धार्मिक सिद्धान्तको जनतामें प्रकाशित करनेका साधन इस प्रचलित भाषाको बनाया है।

जब हम उपनिषद्-कालमें प्रवेश करते हैं तब हम कुरु पांचालीय यज्ञात्मक क्रियाकाण्ड और पूर्वीय आर्योंकी आत्म विद्यारूपी दो विपरीत संस्कृतियोंके मध्यमें पुनः संघर्ष देखते हैं। उपनिषद् सम्बन्धी अध्यात्मवाद विशेषकर वीर क्षत्रियों से संबंधित है। कुरु पाँचाल देशीय विद्वान् इन पूर्वीय नरेशोंके दरबारोंमें आत्मविद्याके नवीनज्ञान में प्रवेश निमित्त प्रतीक्षा करते हुए देखे जाते हैं। उपनिषद्-कालीन जगत उस अवस्थाको बताता है जब ये दोनों विभाग एक निश्चय और समझौता प्राप्तिके निमित्त प्रयत्न करते हुए नजर आते हैं।

इस प्रकारकी समन्वयात्मक भावनाके द्योतक राजा जनक प्रतीत होते हैं और पूर्वीय आर्य विद्वान याज्ञवल्क्य संभवतः उस शक्तिके प्रतीक हैं जिससे समन्वय और व्यवस्था हुई। पुरातनयज्ञविधि पूर्ण रीतिसे निषिद्ध किए जानेके स्थानमें कुछ हीन स्थिति वाली संस्कृतिके रूपमें रखी गई तथा आत्म विद्याका नवीन ज्ञान स्पष्टरूपसे उच्च माना गया। इस प्रकारके समझौतेमें निश्चयसे कट्टर आर्य वर्गकी विजय थी, किन्तु ऐसा समझौता उदार विद्वानोंको स्वीकृत नहीं हुआ होगा और वे निश्चयसे पृथक रहे होंगे। इस बातका प्रमाण जैन रामायणमें मिलता है। एक छोटा सा उदाहरण है। जब दशरथके दरबारमें रामके विवाहकी बातचीत चली तब एक मंत्रीने सूचित किया कि जनककी कन्या सीता उपयुक्त वधू होगी, किन्तु अनेक मन्त्रियोंने यह कह इस बातका तीव्र प्रतिवाद किया कि जनक अब अहिंसाके अनुयायी नहीं रहे हैं, क्योंकि वह दूसरे पक्षमें पुनः चले गये हैं। अन्तमें यह निर्णय हुआ कि धार्मिक विभिन्नताके होते हुये भी राजनैतिक तथा सैनिक दृष्टि से यह संबंध वाँछनीय है। यह उदाहरण इस बातको स्पष्ट करता है कि जबतक जनकने पक्ष परिवर्तन नहीं किया था तब तक वे उदार आर्योंमें परिगणित किये जाते थे। यह कहना अयथार्थ नहीं होगा कि पूर्वीय आर्य लोग, जो यज्ञ विधिके विरोधी थे तथा जिनके नेता वीर क्षत्रिय थे, अहिंसा सिद्धान्तमें विश्वास करते थे और इससे वे जैनियोंके पूर्वज थे। महावीरके समयके लगभग इस उदार विचार धाराने बौद्ध धर्मके संस्थापक शाक्य मुनि गौतमके रूपमें अन्य वीर क्षत्रिय-द्वारा संचालित दूसरी विचार प्रणालीको अपनेमें से उत्पन्न किया। गौतम बुद्ध शाक्य वंशीय हैं, उनके जीवनमें शाक्य वंशका संबंध उस इक्ष्वाकु वंशसे लगाया जाता है जिसने प्राचीन भारतीय संस्कृति के निर्माणमें महत्वपूर्ण कार्य किया था। और तो क्या, पौराणिक हिन्दु धर्म तकमें क्षत्रिय वीरोंकी सेवायें सम्मानित हुई हैं क्योंकि वे उसमें विष्णु अवतारके रूपमें प्रशंसित हुए हैं, जिसके मन्दिर बनाये जाते हैं और पूजा की जाती है। यह आश्चर्यकी बात है कि इस अहिंसा सिद्धान्तका

उपदेश वे क्षत्रियवीर देते थे जो धनुष बाण लेकर भ्रमण करते थे और जिनका संग्राम संबंधी कार्यों से विशेष संबंध रहा करता था।

यह विषय अज्ञात है कि उनका अहिंसासे संबंध कैसे हुआ, किन्तु यह बात सन्देह रहित है कि वे लोग अहिंसा-सिद्धान्तके संस्थापक थे। ये क्षत्रिय नेता जहाँ कहीं जाते थे अपने साथ मूल अहिंसा धर्मको ले जाते थे, पशु-बलिके विरुद्ध प्रचार करते थे तथा शाकाहारको प्रचलित करते थे। इन बातोंको भारतीय इतिहासके प्रत्येक अध्येता को स्वीकार करना चाहिये। यह बात भवभूतिके नाटक, उत्तर राम-चरित्रमें बाल्मीकि-आश्रमके एक दृश्यमें वर्णित है। जनक और वशिष्ठ अतिथि के रूपमें आश्रम पहुँचते हैं। जब जनकका अतिथि सत्कार किया जाता है तब उन्हें शुद्ध शाकाहार कराया जाता है, आश्रम स्वच्छ और पवित्र किया जाता है किन्तु जब आश्रममें वशिष्ठ आते हैं तब एक मोटा गो-वत्स मारा जाता है। आश्रमका एक विद्यार्थी व्यंग्यके रूपमें अपने साथीसे पूछता है कि, क्या कोई व्याघ्र आश्रममें आया था। दूसरा छात्र वशिष्ठका अपमान पूर्ण शब्दोंमें उल्लेख करनेके कारण उसे भला बुरा कहता है। प्रथम विद्यार्थी क्षमा माँगता हुआ अपनी बातका इस प्रकार स्पष्टीकरण करता है कि मुझे ऐसा अनुमान करना पड़ा कि आश्रममें कोई व्याघ्र जैसा मांसाहारी जानवर अवश्य आया होगा, कारण एक मोटा ताजा गोवत्स गायब हो गया है। इस पर वह विद्यार्थी यह स्पष्ट करता है कि राजऋषि तो पक्के शाकाहारी हैं अतः उनका उसी प्रकार सत्कार होना चाहिये था किन्तु वशिष्ठको उनकी रुचिके अनुसार भोजन कराया गया, कारण वे पक्के शाकाहारी नहीं थे। यह बातें अहिंसा सिद्धान्तका महत्व तथा उसकी प्रबलताको स्पष्टतया बताती हैं। ये बातें तामिल साहित्यमें भी भली भाँति प्रति-बिम्बित होती हैं, जब कि जैन दक्षिणकी ओर गये थे और उनने तामिल साहित्य के निर्माणमें भाग लिया था। प्रारंभिक जैनियोंने अपने धर्मके प्रचारका कार्य किया होगा, और इसलिये वे देशके आदमनिवासियोंके साथ निःसंकोच भावसे मिले होंगे। आदिमनिवासियों के साथ उनकी मैत्रीसे यह बात भी प्रगट होती है।

जिन देशवासियोंके विरुद्ध आर्य लोगोंको संग्राम करना पड़ा था, वे दस्यू कहे जाते थे। यद्यपि अन्यत्र उनका निंदापूर्ण शब्दोंमें वर्णन किया गया है, किन्तु उनका जैन साहित्यमें कुछ सम्मानके साथ वर्णन है। इसका एक उदाहरण यह है कि वालमीकि-रामायणमें जो बंदर और राक्षसके रूपमें अलंकृत किए गए हैं, वे जैन रामायणमें विद्याधर बताए गए हैं। जैनसाहित्यसे यह बात भी स्पष्ट होती है कि आर्य वंशीय वीर क्षत्रिय विद्याधरोंके यहाँकी राजकुमारियोंके साथ स्वतंत्रतापूर्वक विवाह करते थे। इस प्रकारकी वैवाहिक मैत्री बहुत करके राजनैतिक एवं यौद्धिक कारणोंसे की जाती थी। इसने अहिंसा सिद्धान्त को देशके मूल निवासियोंमें प्रचारित करनेका द्वार खोल दिया होगा। उत्तरसे तामिल देशकी ओर प्रस्थान करने एवं वहाँ अहिंसा पर स्थित अपनी संस्कृतिका प्रचार करनेमें इस प्रकारके कारणकी कल्पना करनी पड़ी होगी। कट्टर (वैदिक) आर्योंका

संप्रदाय तामील देशके मैदानमें बहुत विलम्बसे आया होगा, कारण यह बात हिन्दुधर्मके पश्चात कालवर्ती उस पुनरुद्धारसे पूर्णतया स्पष्ट होती है, जिसने दक्षिणमें जैनियोंकी प्रभुताको गिराया।

साधारणतया यह कल्पना की जाती है कि, चन्द्रगुप्त मौर्यके गुरु भद्रबाहुके समयमें जैनियोंने दक्षिण भारतकी ओर गमन किया था और उत्तर भारतमें द्वादश वर्षीय भयंकर दुष्काल आने पर भद्रबाहु संपूर्ण जैन संघको दक्षिणकी ओर ले गए थे और उनका अनुसरण उनके शिष्य चन्द्रगुप्तने किया था एवं अपना राज्यासन अपने पुत्रको प्रदान किया था। वे कुछ समय तक मैसूर प्रांतमें ठहरे। भद्रबाहु और चंद्रगुप्तने श्रवणबेलगोलाके चंद्रगिरि पर्वत पर प्राण त्याग किया तथा शेष लोग तामिल देशकी ओर चले गए। इन बातोंको पौर्वात्य विद्वान् स्पष्टतया स्वीकार करते हैं, किन्तु जैसा मैंने अन्यत्र कहा है,यह जैनियोंका दक्षिणकी ओर प्रथम प्रस्थान नहीं समझना चाहिये। यही बात तर्क संगत प्रतीत होती है कि, दक्षिणकी ओर इस आशासे गमन हुआ होगा कि सहस्रों साधुओं को, बंधुत्व भावपूर्ण जातिके द्वारा हार्दिक स्वागत प्राप्त होगा। खारवेलके हाथीगुफा वाले शिलालेख से यह बात स्पष्ट होती है कि सम्राट् खारवेलके राज्याभिषेकके समय पांड्य नरेशने कई जहाज भरकर उपहार भेजे थे। खारवेल प्रमुख जैन-सम्राट थे और पांड्यनरेश उसी धर्मके अनुयायी थे; ये बातें तामिल-साहित्यके शिलालेखसे स्पष्ट होती हैं। तामिल ग्रंथ 'नालदियर" के सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि, उत्तरमें दुष्कालके कारण अष्ट सहस्र जैन साधु पांड्यदेशमें आए थे, वहाँ ठहरे थे तथा अपने देशको वापिस जाना चाहते थे, उनका यह वापिस जाना पाँड्य नरेशको इष्ट नहीं था। अतः उन सबोंने समुदाय रूपसे एक रात्रिको पाँड्यनरेशकी राजधानीको छोड़ दिया। प्रत्येकने एक२ ताड़ पत्र पर एक २ पद्य लिखा था और उसको वहाँ ही छोड़ दिया था। इन पद्योंके समुदायसे "नालदियर' नामक ग्रंथ बना है। यह परम्परा कथन दक्षिणके जैन तथा अजैनोंको मान्य है। इससे इस बातका भी समर्थन होता है कि तामिल देशमें भद्रबाहुके जानेसे पूर्व जैन नरेश थे। अब स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, वह कौनसा निश्चित काल था जब जैन लोग तामिल देशकी ओर गए? तथा ऐसा क्यों हुआ? परन्तु हमारे प्रयोजनके लिए इतना ही पर्याप्त है यदि हम यह स्थिर करनेमें समर्थ होते हैं कि, ईसासे ४०० वर्ष पूर्वसे भी पहले दक्षिणमें जैनधर्म का प्रवेश होना चाहिये। यह विचार तामिल विद्वानोंकी विद्वत्तापूर्ण शोधसे प्राप्त परिणामोंके अनुरूप है। श्री शिवराज पिल्ले "आदिम तामिलोंके इतिहास"में आदि तामिलवासियोंके सम्बन्ध में लिखते हैं—

'जैसा कि मैं अन्यत्र बता चुका हूँ, आर्य लोगोंके संपर्कमें आनेके पूर्व द्राविड़ लोग विशेषकर भौतिक सभ्यताके निर्माण करने, वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवनकी अनेक सुविधाओंको प्राप्त करनेमें लगे हुए थे, इसलिए स्वभावतः उनकी जीवनियोंने भौतिक रंग स्वीकार किया और वे उस रूपमें तत्कालीन साहित्यमें प्रतिबिम्बित हुई धार्मिक भावना उस समय अविद्यमान थी और वह उनमें पीछे उत्पन्न हुई थी। सब बातों एवं

परंपरा कथनों पर विचार करनेसे विदित होता है कि जब आर्य लोगोंका प्रथम प्रवेश प्रारम्भ हुआ, तब उसमें प्रथम समूह जैन और बौद्ध लोगोंका प्रतीत होता है। तामिल भूमिमें किसी परिमाणमें भी प्रतिद्वंद्विताके लिए ब्राह्मणधर्मको न पाकर इन अवैदिक संप्रदायोंको बहुधा नैतिक एवं साहित्यिक रचनाओंके निर्माण-द्वारा अपनेको संतुष्ट करना पड़ा। तामिलवासी भी इस भावनासे प्रभावित प्रतीत होते हैं और इससे उनकी राष्ट्रीयताकी ओर उत्सुकता हुई। और इस प्रकार दूसरा काल भाव और परिणाममें साहित्यिक रहा जिसके परिचायक कुरल, तोल काप्पियम, आदि तात्कालिक ग्रन्थ हैं। हिन्दु लोग सबके अन्तमें आए और उनके आनेसे राष्ट्रीय जागृतिका नूतन द्वार खुला, जिस ओर द्राविड़ोंका उस वक्तसे पूर्ण जीवन और ज्ञान प्रभाहित हुआ। हम तीन संगमोंका उल्लेख किए बिना तामिल साहित्यके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कह सकते। तामिल साहित्य खासकर पिछला उन तीन संगमोत्रयी या 'एकेड़ेमीज़' (Academies) का उल्लेख करता है, जिनकी अधीनतामें तामिल साहित्यका उद्भव हुआ है। संगमकी बहुतसी कथा तो पौराणिकतामें छुपी हुई है। पुरातन संगम साहित्यके नामसे माने जाने वाले अष्ट संग्रहों, दश कविताओं आदि ग्रन्थोंमें संगम-साहित्यका उल्लेख नहीं है। आधुनिक पश्चिमात्य विद्वानोंका यह परिणाम निकालना ठीक है कि संपूर्ण परंपरा कथन मिथ्या है और वह किसी उर्वर मस्तिष्ककी उपज है। श्रीशिवराज पिल्ले, जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, संगम परंपराके विषयमें पर्याप्त ऊहापोहके पश्चात् इस प्रकार लिखते हैं—

इस भांति अनेक सार गर्भित कारणोंसे कोई भी विचारशील विद्वान् संगम विषयक परंपरा कथनको पूर्णतया अप्रमाण एवं गंभीर ऐतिहासिक विचारके अयोग्य मानेगा। वह तो पौराणिकता एवं उस युगमें उत्पन्न तत्कालीन मनोवृत्तियोंको अध्ययन करनेके लिए एक अध्याय पेश करेगा। यद्यपि वह तामिल इतिहासकी बाह्य घटनाओंको प्रमाणित करनेमें असमर्थ है, तथापि वह परंपरा राष्ट्रीयज्ञानके प्रतिनियत समयकी खास घटना होनेके कारण चिंतनीय है। मुझे अधिक सन्देह है कि कहीं आठवीं सदीका परम्परा कथन जैनियोंके पूववर्ती संगम आन्दोलनकी हल्की पुनरावृत्ति तो नहीं है। हमारे पास इस बातके प्रमाण हैं कि वज्रनंदी संगमके संस्थापनके लिये मदुरा गये थे, वे जैन वैयाकरण और विद्वान् थे। वे छटी शताब्दिके कर्नाटक प्रांतीय संस्कृत वैयाकरण, जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता और संस्कृत व्याकरणके आठ प्रामाणिक रचनाकारोंमें देवनंदि पूज्यपादके अन्यतम शिष्य थे। यथार्थमें वह संगम् अपने धर्म प्रचारमें संलग्न जैन साधुओं और विद्वानोंके महाविद्यालयके सिवाय अन्य नहीं हो सकता। इस आन्दोलनने तामिल देशमें संगमके विचारको पहिली बार उत्पन्न किया होगा। यह अधिक संभव है कि सातवीं सदीमें जैनियोंका निर्दयता पूर्वक संहार करनेके अनन्तर वैदिक हिन्दु समाज ने अपने घरको व्यवस्थित करनेमें प्रयत्न किया होगा और संगमोंके स्थापनार्थ वे धर्म गुरुओंके साथमें संलग्न हुये होंगे ताकि वे अपने साहित्यकी प्रामाणिकता और महत्ताको बढ़ायें। यह पूर्वके

जैनधर्म गुरुओंका संगम था, जिसने बहुत करके उस नमूनेके अनुसार वैदिक पक्षको अपने साहित्यिक संगमकी कथा कल्पित करनेका मार्ग दिखाया। संगम् शब्दसे प्राचीन तामिल वासियोंका अपरिचित होना ही उसकी बादकी उत्पत्तिको बताता है। उसके उत्तेजक कारण संगम नामधारी साहित्य पर लक्षित विचारको लादनेका प्रयत्न एक प्रकारसे ज्वलंत और मिथ्या विषमतापूर्ण है। (?)"

इसमें मैं जिस बातको जोड़ना चाहता हूँ वह है द्राविड़ संघका अस्तित्व जिसे दूसरे शब्दोंमें मूल संघ भी कहते हैं और जो ईसासे १०० वर्ष पूर्व उस दक्षिण पाटलिपुत्रमें था। जो कुड्डेलोर अहातेका वर्तमान तिरुप्पापुलियूर समझा जाता है। इस द्राविड़ संघके अधिनायक महान् जैनाचार्य श्री कुंदकुंद थे, जो सम्पूर्ण भारतवर्षके द्वारा अत्यन्त पूज्य माने जाते हैं वज्रनन्दि द्वारा तामिल नाडूमें तामिल संगमके पुनरुद्धारका प्रयत्न श्री कुंदकुंदाचार्यसे संबंधित आदि मूलसंघकी अवनतिको बताता है। यह बात उन शोध खोजके विद्यार्थियोंकी सूचनार्थ लिखी जाती है, जिनकी तामिल देशीय नियोंके प्रभाव-विषयक इतिहासमें विशेष रुचि हो।

इस प्रसंगमें दूसरी मनोरंजक तथा उल्लेखनीय बात प्राकृत भाषा और उसकी सब देशोंमें प्रचार की है। अगस्त्य कृत महान व्याकरण शास्त्रका अवशिष्ट अंश समझे जाने वाले सूत्रोंके संग्रह में उत्तर प्रांतकी भाषाओं—संस्कृत भाषाओं पर एक अध्याय है। उसमें संस्कृत और अपभ्रंश भाषाका उल्लेख करनेके अनन्तर सब देशोंमें प्रचलित पाइतम् नामकी भाषाका वर्णन है। हमें पहले उत्तरके विचारशील नेताओंसे विशेष रीतिसे संबंध रखने वाली प्राकृत भाषाके उल्लेख करनेका अवसर मिला था। तामिल व्याकरणमें उस प्रदेशकी प्रचलित भाषाके रूपमें इसका उल्लेख होना विशेष महत्वकी बात है। कारण इससे प्राकृत साहित्यका आदि प्रवेश एवं तामिल देशमें प्राकृत भाषा लोगोंके गमनका ज्ञान होता है। इससे संबंधित एक बात और है कि कुछ संगम संग्रहोंसे नामांकित ग्रंथोंमें 'वाद विकरुत्तल' या सल्लेखनाका वर्णन पाया जाता है। इस 'वादविकरुत्तल' का कुछ राजाओंने पालन किया था और जिनका अनुकरण उनके मित्रोंने किया था। जैनियोंसे संबंधित एक प्रधान धार्मिक क्रियाको सल्लेखना कहते हैं। जब कोई व्यक्ति रोग या कष्टसे पीड़ित है और वह यह जानता है, कि मृत्यु समीप है और शरीरको औषधि देनेमें काल व्यय करना व्यर्थ है, तब वह अपने अवशिष्ट जीवनको ध्यान तथा प्रार्थनामें व्यतीत करनेका निश्चय करता है वह मरण पर्यन्त आहार एवं औषधि स्वीकार नहीं करता। इस क्रियाको 'सल्लेखना' कहते हैं। सबसे प्राचीन तामिल संग्रहोंमें इसका उल्लेख पाया जाता है। वहाँ इसे 'वादविकरुतल' के नामसे कहा है। इसका महत्व यद्यपि बिल्कुल स्पष्ट है किन्तु इस शब्दके उद्भवके विषयमें तनिक सन्देह है। जैनियोंने तामिल भाषामें जिस साहित्यका निर्माण किया और जिसके साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध है उसका उल्लेख न करते हुए भी, ये सब बातें मिलकर हमें बलात् यह विश्वास करनेके लिये प्रवृत्त करती हैं कि, उपलब्ध प्राचीनतम तामिल साहित्यमें भी जैनियोंके प्रभाव सूचक चिन्ह पाये जाते हैं*। क्रमशः

* जैन एण्टीक्वेरीमें प्रकाशित अंग्रेज़ी लेखका अनुवाद।

जैनागमोंमें समय-गणना

[लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा]

जैनागम भारतीय प्राचीन संस्कृति, साहित्य और इतिहासके भंडार हैं। दार्शनिक और साहित्यिक दोनों विद्वानोंके लिये उनमें बहुत कुछ मननीय एवं गवेषणीय सामग्री भरी पड़ी है। पर दुःखकी बात है कि भारतीय जैनेतर विद्वानोंने इन जैनागमोंकी ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। हाँ पाश्चात्य विद्वानोंमें से डाक्टर हर्मन जैकोबी आदि कुछ विद्वानोंने उनका वैदिक एवं बौद्ध साहित्यके साथ तुलनात्मक अध्ययन ज़रूर किया है और उसके फलस्वरूप अनेक नवीन तथ्य साहित्यप्रेमी संसारके सन्मुख लेखों तथा ग्रन्थोंके रूपमें प्रकट किये हैं। इधर कुछ वर्षोंसे हमने कई जैनागमोंका साहित्यिक दृष्टिकोणसे अध्ययन किया, उनको सिर्फ साहित्यक ही नहीं बल्कि विविध दृष्टियोंसे बहुमूल्य पाया। प्रत्येक विषयके विद्यार्थियोंको उनमें कुछ न कुछ नवीन और तत्थ पूर्ण सामग्री मिल सकती है। उनमें कई विषय तो हमें तुलनात्मक दृष्टिसे बहुत ही महत्वपूर्ण प्रतीत हुए, अतः उनको साहित्य संसारके समक्ष रखते हुए विद्वानोंका ध्यान उस ओर आकर्षित करना हमें परमावश्यक मालूम होता है। इस दृष्टिसे, प्रस्तुत लेखमें, 'समयगणना' का जैसा रूप जैनागमोंमें प्राप्त होता है उसे पाठकोंके सन्मुख रखा जाता है।

जैनदर्शनमें कालद्रव्यका सबसे सूक्ष्म अंश 'समय' है। समयकी जैसी सूक्ष्मता जैनागमोंमें बतलाई गई है वैसी किसी भी दर्शनमें नहीं पाई जाती। इस सूक्ष्मता का कुछ आभास उदाहरण-द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है:—

प्रश्न—शक्ति सम्पन्न, स्वस्थ और युवावस्था वाला कोई जुलाहेका लड़का एक बारीक पट्टसाड़ी—वस्त्रका एक हाथ प्रमाण टुकड़ा—बहुत शीघ्रतासे एक ही झटके से फाड़ डाले तो इस क्रियामें जितना काल लगता है क्या वही समयका प्रमाण है ?'

उत्तर—'नहीं, उतने कालको समय नहीं कह सकते, क्योंकि संख्यात् तन्तुओंके इकट्ठे होने पर वह वस्त्र बना है, अतः जब तक उसका पहला तन्तु छिन्न नहीं होगा तब तक दूसरा तन्तु छिन्न नहीं होता। पहला तन्तु एक कालमें टूटता है, दूसरा तन्तु दूसरे कालमें, इस लिये उस संख्येय तन्तुओंको तोड़नेकी क्रिया वाला काल समय संज्ञक नहीं कहा जा सकता।'

प्रश्न—'जितने समयमें वह युवा पट्टसाटिकाके पहले तन्तुको तोड़ता है क्या उतना काल समय-संज्ञक होता है ?'

उत्तर—'नहीं, क्योंकि पट्टसाटिका एक तन्तु संख्यात सूक्ष्म रोमोंके एकत्रित होने पर बनता है, अतः तन्तुका पहला—ऊपरका रूआँ जब तक नहीं टूटता तब तक नीचे वाला दूसरा रूआँ नहीं टूट सकता।'

प्रश्न—'तब क्या जितने कालमें वह युवा पट्टसाटिकाके प्रथम तन्तुके प्रथम रोयेंको तोड़ता है उतना काल समय संज्ञक हो सकता है ?'

उत्तर—'नहीं, क्योंकि अनन्त परमाणु-संघातोंके एकत्रित होने पर वह रोयाँ बनता है। अतः रोयेंका प्रथम परमाणु-संघात जब तक नहीं टूटता तब तक नीचे का संघात नहीं टूट सकता। ऊपरका संघात एक कालमें टूटता है, नीचेका संघात उससे भिन्न दूसरे कालमें। इसलिये एक रोयेंके टूटनेकी क्रियावाला काल भी समय सञ्ज्ञक नहीं हो सकता।'

अर्थात् एक रोयेंके टूटनेमें जितना समय लगता है उससे भी अत्यन्त सूक्ष्मतर कालको 'समय' कहते हैं। जैनदर्शनमें मनुष्य आँख बन्दकर खोलता है या पलकें मारता है, इस क्रियामें लगने वाले कालमें असंख्यात समयका बीत जाना बतलाया गया है।

उपर्युक्त उदाहरणसे पाठकोंको जैनदर्शनके समयकी सूक्ष्मताका कुछ आभास अवश्य मिल सकता है। ये दृष्टान्त केवल विषयको बोधगम्य करनेके लिये ही दिये गये हैं। समयका वास्तविक स्वरूप तो कल्पनातीत है। अब समयके अधिक कालकी गणनाको संक्षेपसे बतलाया जाता है।

१ निर्विभाज्य काल रूप	१ समय
२ असंख्यात समयोंकी	१ आवलिका
३ संख्येय आवलिकोंका	१ उश्वास (स्वस्थ युवाका)
४ संख्येय आवलिकोंका	१ निश्वास (,,)
५ उश्वास युक्त निश्वासका	१ प्राण
६ सात प्राणोंका	१ स्तोक
७ सात स्तोकोंका	१ लव
८ ७७ लवोंका	१ मुहूर्त

(इस प्रकार ३७७३ श्वासोच्छ्वासोंका एक मुहूर्त—२ घड़ी ४८ मिनिट—होता है)

९ ३० मुहूर्तोंका	१ अहोरात्र (दिन)
१० १५ दिनोंका	१ पक्ष
११ २ पक्षोंका	१ मास
१२ २ मासोंकी	१ ऋतु
१३ ३ ऋतुओंका	१ अयन
१४ २ अयनोंका	१ वर्ष
१५ ५ वर्षोंका	१ युग
१६ २० युगोंकी	१ शताब्दी
१७ १० शताब्दियों का एक हज़ार वर्ष	
१८ १०० हज़ार वर्षोंका	१ लक्ष वर्ष
१९ ८४ लक्ष वर्षोंका	१ पूर्वांग
२० ८४ लक्ष पूर्वांगोंका	१ पूर्व
	(७०५६०००००००००० वर्ष)
२१ ८४ लक्ष पूर्वोंका	१ त्रुटितांग
२२ ८४ लक्ष त्रुटितांगोंका	१ त्रुटित
२३ ८४ लक्ष त्रुटितोंका	१ अड़ड़ांग
२४ ८४ लक्ष अड़ड़ांगोंका	१ अड़ड़
२५ ८४ लक्ष अड़ड़ोंका	१ अववाँग
२६ ८४ लक्ष अववांगोंका	१ अवव
२७ ८४ लक्ष अववोंका	१ हुहुकांग
२८ ८४ लक्ष हुहुकाँगोंका	१ हुहु
२९ ८४ लक्ष हुहुकोंका	१ उत्पलाँग
३० ८४ लक्ष उत्पलाँगोंका	१ उत्पल
३१ ८४ लक्ष उत्पलोंका	१ पद्माँग
३२ ८४ लक्ष पद्माँगोंका	१ पद्म
३३ ८४ लक्ष पद्मोंका	१ नलिताँग
३४ ८४ लक्ष नलिताँगोंका	१ नलित
३५ ८४ लक्ष नलितोंका	१ अर्थनिपूराँग
३६ ८४ लक्ष अर्थनिपूरांगोंका	१ अर्थनिपूर
३७ ८४ लक्ष अर्थनिपूरोंका	१ अयुतांग
३८ ८४ लक्ष अयुतांगोंका	१ अयुत
३९ ८४ लक्ष अयुतोंका	१ नयुतांग

४०	८४ लक्ष नयुतांगोंका	१ नयुत
४१	८४ लक्ष नयुतोंका	१ प्रयुतांग
४२	८४ लक्ष प्रयुतांगोंका	१ प्रयुत
४३	८४ लक्ष प्रयुतोंका	१ चूलिकांग
४४	८४ लक्ष चूलिकांगोंकी	१ चूलिका
४५	८४ लक्ष चूलिकाओंकी	१ शीर्षप्रहेलिकांग
४६	८४ लक्ष शीर्षप्रहेलिकागोंकी	१ शीर्षप्रहेलिका

अंकोमें ७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७६७३ ६६६७५६६६४०६२१८६६६८४८०८०१८३२९६ इनके आगे १४० शून्य अर्थात् इस १९४ अंक वाली संख्या को शीर्ष प्रहेलिका कहते हैं। संख्याका व्यवहार यहीं तक है। अब इससे अधिक संख्या वाले (असंख्यात वर्षों वाले) पल्योपम और सागरोपमका स्वरूप दृष्टान्तों से बतलाया जाता है।

औपमिक काल प्रमाण दो प्रकारका होता है—पल्योपम एवं सागरोपम। पल्योपम तीन प्रकारका होता है—१ उद्धार पल्योपम, २ अद्धापल्योपम, ३ क्षेत्र पल्योपम। उद्धार पल्योपम दो प्रकार का होता है—१ सूक्ष्म उद्धारपल्योपम, २ व्यवहारिक पल्योपम।

१ व्यवहारिक उद्धार पल्योपम—एक योजन‡की लम्बाई-चौड़ाई एवं ऊँचाई वाली धान्य भरनेकी पाली के समान गोलाकार ऐसे एक कुएँकी कल्पना की जाय, जिसकी गोल परिधिका नाप तीन योजनसे कुछ अधिक होता है। उसमें, सिर मुड़ानेके बाद एक दिनके दो दिनके यावत् सात अहोरात्रि तकके बढ़े हुए केशोंके टुकड़ोंको ऊपर तक दबा दबा कर इस प्रकार भरा जाय कि उनको न अग्नि जला सके, न वायु उड़ा सके और न वे सड़े या गलें—उनका किसी प्रकार विनाश न हो सके। कुएँको ऐसा भर देनेके बाद प्रति समय एक एक केश-खंडको निकाला जाय। जितने समयमें वह गोलाकार कुआँ खाली हो जाय—उसमें एक भी केशका अंश न बचे—उतने समयको व्यवहारिक उद्धारपल्योपम कहते हैं।

ऐसे दस कोड़ाकोड़ी व्यवहारिक उद्धार पल्योपमका एक व्यवहारिक उद्धार सागरोपम होता है। इस कल्पनासे केवल काल प्रमाणकी प्ररूपणाकी जाती है।

२ सूक्ष्म उद्धार पल्योपमः—उस उपर्युक्त कुएँको एकसे सात दिन तकके बढ़े हुए केशोंके असख्य टुकड़े करके उनसे उसे उपर्युक्त विधिसे भरकर प्रति समय एक एक केशखंड यदि निकाला जाय, तो इस प्रकार निकाले जानेके बाद जब कुँआ सर्वथा खाली हो जाय,

---

‡ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें योजनका प्रमाण इस प्रकार बतलाया गया है—

पुद्गल द्रव्यका सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्श परमाणु कहलाता है, अनन्त सूक्ष्म परमाणुओंका एक व्यवहार परमाणु। अनन्त व्यावहारिक परमाणुओंका एक उष्ण श्रेणिया इस प्रकार क्रमशः आठ आठ गुणा वर्द्धितः—शीतश्रेणिया, उर्ध्वरेणु,त्रसरेणु,रथरेणु, देवगुरु उत्तरकुरुके युगलियोंका बालाग्र, हरिवर्षरम्यक वर्षके युगलियोंका बालाग्र, हेमवत्र ऐरणवथके मनुष्योंका बालाग्र पूर्व महाविदेहक्षेत्रके मनुष्योंका बालाग्र भरत ऐरावत क्षेत्रके मनुष्योंका बालाग्र, उनके आठ बालाग्रोंकी एक लीख, फिर क्रमसे आठ गुणित यूका, यवमध्य, (उत्सेध) अंगुल—६ (उत्सेध) अंगुलोंका एक पाउ बारह अंगुलोंका एक बैत, चौबीस अंगुलोंका एक हाथ, अड़तालीस अंगुलोंकी एक कुक्षी, छियानवे अंगुलोंका एक अक्ष या दंड, धनुष्य, युग, मूसल, नालिका अर्थात चार हाथोंका १ धनुष्य, दो हजार धनुष्योंका एक गाउ (वर्तमान कोस २ माइल) चार गाउका एक योजन होता है।

उतने कालका एक सूक्ष्म उद्धार पल्योपम होता है।

३ **व्यवहार अद्धापल्योपमः**—उपरोक्त कुएँको व्यवहारिक उद्धारके उपर्युक्त विधिसे भरकर दबे हुए केशखण्डोंमें एक एक केशको सौ सौ वर्षों बाद निकाले जाने पर जब कुँआ खाली हो जाय तब उतने समयको व्यवहारिक अद्धापल्योपम कहते हैं।

४ **सूक्ष्म अद्धापल्योपमः**—पूर्वोक्त कुएँको १ दिनसे ७ दिनके बढ़े हुए केशोंके असंख्य टुकड़े करके पूर्ववत् विधिसे दबा कर भर दिया जाय और फिर सौ सौ वर्ष अनन्तर एक एक केशखंड निकाला जाय। जितने कालमें वह कुँआ खाली हो जाय, उतने काल को सूक्ष्म अद्धापल्योपम कहते हैं।

५ **व्यवहार क्षेत्र पल्योपम**—व्यवहार उद्धार पल्योपमके केशाग्रोंने जितने आकाश प्रदेशको स्पर्श किया है, उतने आकाश प्रदेशोंमेंसे एक एकको प्रति समयमें अपहरण करनेमें जितना काल लगे उसे व्यवहारिक क्षेत्र पल्योपम कहते हैं (आकाशके प्रदेश केश-खण्डोंसे भी अधिक सूक्ष्म हैं।

६ **सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमः**—सूक्ष्म उद्धार पल्योपमके केश खण्डोंसे जितने आकाश प्रदेशोंका स्पर्श हुआ हो और जिनका स्पर्श न भी हुआ हो,उनमेंसे प्रत्येक प्रदेशसे प्रति समय अपहरण करते हुए जितना समय लगे उसे सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम कहते हैं।

दश क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपमका एक सागरोपम होता है। पल्योपमके ६ भेदोंके अनुसार सागरोपमके भी ६ भेद हो सकते हैं। ऐसे दश क्रोड़ा क्रोड़ी सूक्ष्म अद्धा सागरोपमोंकी १ उत्सर्पिणी या १ अवसर्पिणी होती है। इन दोनोंको मिलानेसे अर्थात् २० क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपमका एक काल चक्र होता है। इससे अधिक समयको अनंत काल कहते हैं।

इस प्रकार जैनागमोंमें वर्णित समयगणनाका संक्षेपसे निरुपण किया गया है। यह निरुपण अनुयोगद्वार सूत्र एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिके आधारसे लिखा गया है। जो कि मूल एवं उपांग ग्रंथ माने जाते हैं ज्योतिष-करंड पयन्ना और अन्य बादके ग्रन्थोंमें इस निरुपणसे कुछ तारतम्य भी पाया जाता है, पर लेख विस्तारके भयसे उसकी आलोचना यहाँ नहीं की गई। विशेष जाननेके इच्छुक जिज्ञासुओंको 'लोकप्रकाश' एवं अर्हतदर्शन-दीपिकादि ग्रन्थ देखने चाहियें। जैनागमोंमें वर्णित समय गणनाकी बौद्ध एवं वैदिक प्राचीन साहित्यसे तुलना करना आवश्यक है। आशा है साहित्यप्रेमी इस ओर प्रयत्नशील होंगे।

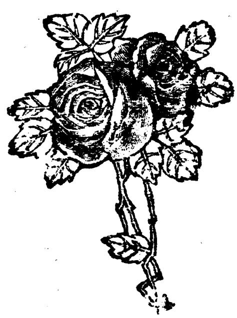

यति-समाज

[लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा]

जैनागमों एवं कोषग्रन्थोंमें यति, साधु, मुनि, निर्ग्रन्थ, अनगार और वाचंयम आदि शब्द एकार्थबोधक माने गये हैं * अर्थात् यति साधुका ही पर्यायवाची शब्द है, पर आज कल इन दोनों शब्दोंके अर्थमें रात और दिनका अन्तर है । इस का कारण यह है कि जिन जिन व्यक्तियोंके लिये इन दोनों शब्दोंका प्रयोग होता है, उनके आचार-विचारमें बहुत व्यवधान हो गया है । जो यति शब्द किसी समय साधुके समान ही आदरणीय था, आज उसे सुन कर काल-प्रभावसे कुछ और ही भाव उत्पन्न होते हैं । शब्दोंके अर्थमें भी समय के प्रभावसे कितना परिवर्त्तन हो जाता है, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है ।

जैनधर्ममें साधुओंके आचार बड़े ही कठोर और दुश्चरणीय हैं । अतएव उनका यथारीति पालन करना 'असिधार पर चलनेके समान हो' कठिन बतलाया गया है । कहीं कहीं 'लोहेके चने चबाने' का दृष्टान्त भी दिया गया है, और वास्तवमें है भी ऐसा ही । जैनधर्म निवृत्ति प्रधान है,और मनुष्य-प्रकृतिका झुकाव प्रवृत्तिमार्गकी ओर अधिक है—पौद्गलिक सुखोंकी ओर मनुष्यका एक स्वाभाविक आकर्षण-सा है । सुतरां जैन साध्वाचारोंके साथ मनुष्य-प्रकृतिका संघर्ष अवश्यम्भावी है । इस संघर्षमें जो विजयी होता है; वही सच्चा साधु कहलाता है । समय और परिस्थिति बहुत शक्तिशाली होते हैं; उनका सामना करना टेढ़ी खीर है । इनके प्रभावको अपने ऊपर न लगने देना बड़े भारी पुरुषार्थका कार्य है । अतः इस प्रयत्नमें बहुतसे व्यक्ति विफल-मनोरथ ही नजर आते हैं । विचलित न होकर, मोरचा बाँध कर डटे रहने वाले वीर बिरले ही मिलेंगे । भगवान् महावीरने यही समझ कर कठिनसे कठिन आचार-विचारको प्रधानता दी है । मनुष्य प्रकृति जितनी मात्रामें आरामतलब है, उतनी ही मात्रामें कठोरता रखे बिना पतन होते देर नहीं लगती । आचार जितने कठोर होंगे, पतनमें भी उतनी देरी और कठिनता होगी । यह बात अवश्य है कि उत्थानमें जितना समय लगता है, पतनमें उससे कहीं कम समय लगता है फिर भी एक पैड़ीसे गिरे

---

* अथ मुमुक्षुः श्रमणो यतिः ॥ ७५ ॥ वाचयंमो व्रती साधुरनगार ऋषिर्मुनिः, निर्ग्रन्थो भिक्षुः । यतते मोक्षायेति यतिः (मोक्षमें यत्न करने वाला यति है) । यतं यमनमस्त्यस्य यती (नियमन, नियंत्रण रखने वाला यति है ।)

—अभिधानचिन्तामणि ।

जइ (पु०) यति, साधु, जितेन्द्रिय संन्यासी (औपपातिक, सुपार्श्व, पाइअस द्दमहण्णवो भा० २ पृ० ४२७)

हुए मनुष्य और पचास पैड़ीसे गिरे हुए मनुष्यमें समयका अन्तर अवश्य रहेगा।

अब साध्वाचारकी शिथिलताके कारणों एवं इतिहासकी कुछ आलोचना की जाती है, जिससे वर्तमान यति-समाज अपने आदर्शसे इतना दूर क्यों और कैसे हो गया? इसका सहज स्पष्टीकरण हो जायगा; साथ ही बहुतसी नवीन ज्ञातव्य बातें पाठकोंको जाननेको मिलेंगी।

भगवान् महावीरने भगवान पार्श्वनाथके अनुयाइयोंकी जो दशा केवल दो सौ ही वर्षोंमें हो गई थी, उसे अपनी आँखों देखा था। अतः उन्होंने उन नियमोंमें काफी संशोधन कर ऐसे कठिन नियम बनाये कि जिनके लिये मेधावी श्रमणकेशी जैसे बहुश्रुतको भी भगवान गौतमसे उनका स्पष्टीकरण कराना पड़ा ❀। सूत्रकारों† ने उसे समयकी आवश्यकता बतलाई और कहा कि प्रभु महावीरसे पहलेके व्यक्ति ऋजुप्राज्ञ थे और महावीर-शासन कालके व्यक्तियोंका मानस उससे बदल कर वक्र जड़की ओर अग्रसर हो रहा था। दो सौ वर्षोंके भीतर परिस्थितिने कितना विषम परिवर्तन कर डाला, इसका यह स्पष्ट प्रमाण है। महावीरने वस्त्र परिधानकी अपेक्षा अचेलकत्वको अधिक महत्व दिया, और इसी प्रकार अन्य कई नियमोंको भी अधिक कठोर रूप दिया।

भगवान् महावीरकी ही दूरदर्शिताका यह सुफल है कि आज भी जैन साधु संसारके किसी भी धर्मके साधुओंसे अधिक सात्विक और कठोर नियमों-आचारोंको पालन करने वाले हैं। अन्यथा बौद्ध और वैष्णवोंकी भांति अवस्था हुए बिना नहीं रहती। पर यह भी तो मानना ही पड़ेगा कि परिस्थितिने जैन मुनियोंके आचारोंमें भी बहुत कुछ शिथिलता प्रविष्ट करादी। उसी शिथिलताका चरम शिकार हमारा वर्तमान यति-समाज है।

इस परिस्थितिके उत्पन्न होनेमें मनुष्य प्रकृति के अलावा और भी कई कारण हैं—जैसे (१) बारहवर्षीय दुष्काल, (२) राज्य विप्लव, (३) अन्य धर्मोंका प्रभाव, (४) निरंकुशता, (५) समयकी अनुकूलता, (६) शरीर-गठन और (७) संगठन-शक्तिकी कमी इत्यादि।

प्रकृतिके नियमानुसार पतन एकाएक न होकर क्रमशः हुआ करता है। हम अपने चर्म्मचक्षु और स्थूलबुद्धिसे उस क्रमशः होनेवाले पतनकी कल्पना भी नहीं कर सकते, पर परिस्थिति तो अपना काम किये ही जाती है। जब वह परिवर्त्तन बोधगम्य होता है, तभी हमें उसका सहसा भान होता है—"अरे! थोड़े समय पहले ही क्या था और अब क्या हो गया? और हमारे देखते देखते ही?" यही बात हमारे साधुओंकी शिथिलताके बारेमें लागू होती है। बारह वर्षके दुष्काल आदि कारणोंने उनके आचारको इतना शिथिल बना दिया कि वह क्रमशः बढ़ते बढ़ते चैत्यवासके रूप में परिणत हो गया। चैत्यवासकी उत्पत्तिका समय पिछले विद्वानोंने वीरसंवत् ८८२ में बतलाया है, पर वास्तवमें वह समय प्रारम्भका न होकर मध्य कालका है ❀। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि परिवर्तन बोधगम्य हुए बिना हमारी समझमें नहीं

❀ उत्तराध्ययन सूत्र "केशी-गौतम-अध्ययन"

† कल्पसूत्र

❀ पुरातत्वविद् श्री कल्याणविजयजीने भी प्रभावक चरित्र पर्यालोचनमें यही मत प्रकाश किया है।

आ सकता।

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि भविष्य जब पतन या उत्थानका होता है तब एक ही ओरसे पतन या उत्थान नहीं होता, वह चारों ओरसे प्रवेश कर अपना घर बना लेता है। यही बात जैनश्रमण-संस्था पर लागू है। जैनागमोंके अनुशीलनसे पता चलता है कि पहले ज्ञानबल घटने लगा। जंबुस्वामीसे केवलज्ञान विच्छेद हो गया, भद्रबाहु से ११ से १४ पूर्वका अर्थ, स्थूलिभद्रसे ११ से १४ वाँ पूर्व मूल और वज्रस्वामिसे १० पूर्वका ज्ञान भी विच्छिन्न होगया †। इस प्रकार क्रमशः ज्ञान बल घटा और साथ ही साथ चारित्रकी उत्कट भावनायें एवं आचरणायें भी कम होने लगीं। छोटी-बड़ी बहुत कमजोरियोंने एक ही साथ आ दबाया। इन साधारण कमजोरियोंको नगण्य समझ कर पहले तो उपेक्षा की जाती है। पर एक कमजोरी आगे चलकर—प्रकट होकर—पड़ोसिन बहुत सी कमजोरियोंको बुला लाती है, यह बात हमारे व्यावहारिक जीवनसे स्पष्ट है। प्रारम्भमें जिस शिथिलताको, साधारण समझकर अपवाद-मार्गके रूपमें अपनाया गया था, वही आगे चल कर राजमार्ग बन गई। द्वादश वर्षीय दुष्कालमें मुनियोंको अनिच्छासे भी कुछ दोषोंके भागी बनना पड़ा था, पर दुष्काल निवर्तनके पश्चात् भी उनमेंसे कई व्यक्ति उन दोषोंको विधानके रूपमें स्वीकार कर खुल्लमखुल्ला पोषण करने लगे। उन की प्रबलता और प्रधानताके आगे सुविहिताचारी मुनियोंकी कुछ नहीं चल सकी।

सम्राट संप्रति ❀ के समयमें जैन मंदिरोंकी संख्या बहुत बढ़ गई। मुनिगण इन मन्दिरोंको अपने ज्ञान-ध्यानके कार्यमें साधक समझ कर वहीं उतरने लगे। बनको उपद्रवकारक समझ कर, क्रमशः वहीं ठहरने एवं स्थायी रूपसे रहने लगे। इस कारणसे उन मन्दिरोंकी देखभालका काम भी उनके ज़िम्मे आ पड़ा, और क्रमशः मन्दिरोंके साथ उनका सम्पर्क इतना बढ़ गया कि वे मन्दिरों को अपनी पैतृक सम्पत्ति (बपौती) समझने लगे। चैत्यवासका स्थूलरूप यहींसे प्रारम्भ हुआ मालूम पड़ता है। एक स्थानमें रहनेके कारण लोकसंसर्ग बढ़ने लगा, कई व्यक्ति उनके दृढ़ अनुयायी और अनुरागी हो गये। इसीसे गच्छोंकी बाड़ाबन्दीकी नींव पड़ी। जिस परम्परामें कोई समर्थ आचार्य हुआ और उनके पृष्ठपोषक तथा अनुयायियों-की संख्या बढ़ी, वही परम्परा एक स्वतन्त्र गच्छरूपमें परिणत हो गई। बहुतसे गच्छोंके नाम तो स्थानोंके नामसे प्रसिद्ध हो गये। रूद्रपल्लीय, संडेरक उपकेश इत्यादि इस बातके अच्छे उदाहरण हैं। कई उस परम्पराके प्रसिद्ध आचार्यके किसी विशिष्टकार्यसे प्रसिद्ध हुए, जैसे खरतर, तपा आदि। विद्वत्ता आदि सद्गुणोंके कारण उनके प्रभावका विस्तार होने लगा और राज-

† इस सम्बन्धमें दिगम्बर मान्यताके लिये "अनेकान्त" वर्ष ३ किरण १ में देखें।

❀ कहा जाता है सम्प्रतिने साधुओंकी विशेष भक्तिसे प्रेरित होकर कई ऐसे कार्य किये जिससे उनको शुद्ध आहार मिलना कठिन हुआ और राजाश्रयसे शिथिलता भी आ घुसी।

दरबारोंमें भी उनकी प्रतिष्ठा जम गई। जनतामें तो प्रभाव था ही, राजाश्रय भी मिल गया; बस और चाहिये क्या था ? परिग्रह बढ़ने लगा, क्रमशः वह शाही ठाटबाट सा हो गया। गद्दी तकियोंके सहारे बैठना, पान खाना, स्नान करना, शारीरिक सौन्दर्यके बढ़ानेके साधनोंका उपयोग, जैसे बाल रखना, सुगंधित तेल और इत्रफुलेलादि सेवन करना, और पुष्पमालाओंको पहनना आदि विविध प्रकारके आगम-विरुद्ध आचरण प्रचलित हो गये ❀।

सुविहित मुनियोंको यह बातें बहुत अखरीं, उन्होंने सुधारका प्रयत्न भी किया, पर शिथिलाचारियोंके प्रबल प्रभाव और अपने पूर्ण प्रयत्नके अभावके कारण सफल नहीं हो सके। समर्थ आचार्य हरिभद्रसूरिने भी अपने संबोध-प्रकरणमें चैत्यवासियोंका बहुत कड़े शब्दोंमें विरोध किया है। इस प्रकरणसे चैत्यवासका स्वरूप स्पष्ट रूपमें प्रकट होता है। प्रसिद्ध कहावत है कि "पापका घड़ा भरे बिना नहीं फूटता"। समयके परिपाकके पूरे होने पर ही कार्य हुआ करते हैं। व्रण भी जब तक पूरा नहीं पक जाता, तब तक नहीं फूटता। ग्यारहवीं शताब्दीमें चैत्यवासियोंका प्राबल्य इतना बढ़ गया कि सुविहितोंको उतरने या ठहरनेका स्थान तक नहीं मिलता था। पाटण उस समय उनका केन्द्रस्थाने था। कहा जाता है कि वहाँ उस समय चैत्यवासी चौरासी आचार्योंके अलग अलग उपाश्रय थे। सुविहितोंमें उस समय श्री वर्द्धमानसूरिजी मुख्य थे। उनके शिष्य जिनेश्वरसूरिसे जैनमुनियोंकी इतनी मार्गभ्रष्टता न देखी गई, अतः उन्होंने गुरुजीसे निवेदन किया कि पाटण जाकर जनताको सच्चे साधुत्वका ज्ञान कराना चाहिये, जिससे कि धर्म, जो कि केवल बाहरके आडम्बरोंमें ही माना जाने लगा है, वास्तविक रूपमें स्थापित हो सके। इन विचारों के प्रबल आन्दोलनसे उनमें नये साहसका सञ्चार हुआ और वे १८ मुनियोंके साथ पाटण पधारे। उस समय उन्हें वहाँ ठहरनेके लिये स्थान भी नहीं मिला, पर आखिर उन्होंने अपनी प्रतिभासे स्थानीय राजपुरोहितको प्रभावित कर लिया, और उसीके यहाँ ठहरे। जैसा कि पहले सोचा गया था, चैत्यवासियोंके साथ विरोध और मुठभेड़ अवश्यम्भावी थी उन लोगोंने जिनेश्वरसूरिजीके आनेका समाचार पाते ही जिस किसी प्रकारसे उन्हें लाञ्छित कर निर्वासित करानेकी ठान ली। विरुद्ध प्रचार उनका पहला हथियार था। उन्होंने अपने कई शिष्यों और आश्रित व्यक्तियोंको यह कहा कि तुम लोग सर्वत्र इस बातका प्रचार करो कि "यह साधु अन्य राज्योंके छद्मवेशी गुप्तचर हैं, यहाँका आन्तरिक भेद प्राप्त कर राज्यका अनिष्ट करेंगे। अतः इनका यहाँ रहना मंगलजनक न होकर उलटा भयावह ही है। जितनी शीघ्र हो सके इनको यहाँसे निकाल देना चाहिये। राष्ट्रके हितके लिये हमें इस बातका

❀ विशेष जाननेके लिये देखें हरिभद्रसूरिजी रचित संबोध-प्रकरण, गणधरसार्द्धशतक वृहद वृत्ति, संघपट्टकवृत्ति आदि। पं० बेचरदासजी रचित, जैन साहित्य माँ विकार थवाथी थयेली हानी' ग्रन्थमें भी संबोध सत्तरीके आधारसे अच्छा प्रकाश डाला गया है।

स्पष्टीकरण करना पड़ रहा है।" फैलते फैलते यह बात तत्कालीन नृपति दुर्लभराजके कानोंमें पहुँची उन्होंने राजपुरोहितसे पूछा और उससे सच्ची वस्तुस्थिति जानने पर उनके विस्मयका पार न रहा, कि ऐसे साधुओंके विरुद्ध ऐसा घृणित और निन्दनीय प्रयत्न!

समयका परिपाक हो चुका था; चैत्यवासियों ने अन्य भी बहुत प्रयत्न किये, पर सब निष्फल हुए। इसके उपरान्त चैत्यवासियोंसे श्री जिनेश्वर-सूरिजीका शास्त्रार्थ हुआ, चैत्यवासियोंकी बुरी तरहसे हार हुई ‡। तभीसे सुविहिताचारियोंका प्रभाव बढ़ने लगा। जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनचन्द्रसूरि और जिनपतिसूरि, इन चार आचार्योंके प्रबलपुरुषार्थ और असाधारण प्रतिभासे चैत्यवासियोंकी जड़ खोखली हो गई। जिनदत्तसूरिजी तो इतने अधिक प्रभावशाली समर्थ आचार्य हुए कि विरोधी चैत्यवासियोंमेंसे कई आचार्य स्वयं उनके शिष्य बन गये। जिनपतिसूरिजीके बाद तो चैत्यवासियोंकी अवस्था हतप्रभाव हो ही गई थी, उनकी शक्ति अब विरोध एवं शास्त्रार्थ तो दूरकी बात, अपने घरको संभाल रखनेमें भी पूर्ण समर्थ नहीं रही थी, कई आत्मकल्याणके इच्छुक चैत्यवासियोंने सुविहित मार्गको स्वीकार प्रचारित किया। उनकी परंपरासे कई प्रसिद्ध गच्छ प्रसिद्ध हुए। खरतर गच्छके मूल-पुरुष वर्द्धमानसूरिजी भी पहले चैत्यवासी थे। इसी प्रकार तपागच्छके जगच्चन्द्रसूरिजीने भी क्रिया-उद्धार किया। इन्हींके प्रसिद्ध खरतरगच्छ तथा तपागच्छ आज भी विद्यमान हैं। वर्धमानसूरिजी के शिष्य जिनेश्वरसूरिने दुर्लभराजकी सभामें (सं० १०७०-७५) चैत्यवासियों पर विजय प्राप्त की, अतः खरे-सच्चे होनेके कारण वह खरतर कहलाये और जगच्चन्द्रसूरिजीने १२ वर्षोंकी आयंबिलकी तपश्चर्या की इससे वे तपा (सं० १२८५) कहलाये। इसी प्रकार अन्य कई गच्छों का भी इतिहास है।

इसके बाद मुसलमानोंकी चढ़ाइयोंके कारण भारतवर्ष पर अशाँतिके बादल उमड़ पड़े। उनका प्रभाव श्रमण-संस्था पर पड़े बिना कैसे रह सकता था? जनसाधारणके नाकों दम था। धर्मसाधनामें भी शिथिलता आ गई थी क्योंकि उस समय तो लोगोंके प्राणों पर संकट बीत रहा था। फलतः मुनियोंके आचरणमें भी काफी शिथिलता आगई थी। यह विषम अवस्था यद्यपि परिस्थिति के आधीन ही हुई थी, फिर भी मनुष्यकी प्रकृतिके अनुसार एक बार पतनोन्मुख होनेके बाद फिर सँभलना कठिनता और विलंबसे होता है। अतः शिथिलता दिन-ब-दिन बढ़ने ही लगी। उस समय यत्र तत्र पैदल विहार करना विघ्नोंसे परिपूर्ण था। यवनोंकी धाड़ अचानक कहींसे कहीं आपड़ती, देखते देखते शहर उजाड़ और वीरान हो जाते। लूट खसोटकर यवन लोग हिन्दुओंके देवमन्दिरों को तोड़ डालते, लोगोंको बेहद सताते और भाँति भाँतिके अत्याचार करते। ऐसी परिस्थितिमें श्रावक लोग मुनियोंकी सेवा संभाल—उचित भक्ति नहीं कर सके, तो यह अस्वभाविक कुछ भी नहीं है।

शिथिलता क्रमशः बढ़ती ही गई, यहाँ तक कि १६ वीं शताब्दीमें सुधारकी आवश्यकता आ

‡ विशेष वर्णनके लिये देखें, सं० १२९५ में रचित—"गणधर-सार्द्ध-शतकवृहद्वृत्ति"।

पड़ी ! चारों ओरसे सुधारके लिये व्यग्र आवाजें सुनाई देने लगीं। वास्तवमें परिस्थितिने क्रांति-सी मचा दी। श्रावक समाजमें भी जागृति फैली। सोलहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें प्रथम लोंकाशाह (सं० १५३०) ने विरोधकी आवाज उठाई, कड़वाशाहने उस समयके साधुओंको देख वर्त्तमान काल (१५६२) में शुद्ध साध्वाचारका पालन करना असंभव बतलाया और संवरी श्रावकोंका एक नया पंथ निकाला, पर यह मूर्तिपूजाको माना करते थे। लोंकाशाहने मूर्तिपूजाका भी विरोध किया, पर सुविहित मुनियोंके शास्त्रीय प्रमाण और युक्तियोंके मुकाबले उनका यह विरोध टिक नहीं सका। पचास वर्ष नहीं बीते कि उन्हीं के अनुयायियोंमेंसे बहुतोंने पुनः मूर्तिपूजाको स्वीकार कर लिया‡,बहुतसे शास्त्रार्थमें पराजित होकर सुविहित मुनियोंके पास दीक्षित होगये। सुविहित मुनियोंकी दलीलें शास्त्रसम्मत,प्रमाणयुक्त, युक्तियुक्त और समीचीन थीं, उनके विरुद्ध टिके रहनेकी विद्वत्ता और सामर्थ्य विरोधियोंमें नहीं थी।

इधर आत्मकल्याणके इच्छुक कई गच्छोंके आचार्योंमें भी अपने अपने समुदायके सुधार करने की भावनाका उदय हुआ; क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं शास्त्रविहित मार्गका अनुसरण नहीं करता, उसका प्रभाव दिन-बदिन कम होता चला जाता है। खरतरगच्छके आचार्य श्री जिनमाणिक्य सूरिजीने अपने गच्छके सुधार करनेका निश्चय कर लिया और इसी उद्देश्यसे वे जिनकुशलसूरिजीकी यात्रार्थ देरावर पधारे। पर भावी प्रबल है, मनुष्य सोचता कुछ है, होता कुछ और ही है। मार्ग ही में उनका स्वर्गवास हो गया,अतः वे अपनी इच्छाको सफल और कार्यमें परिणत नहीं कर सके। उनके तिरोभावके बाद उनके सुयोग्य शिष्य श्रीजिनचन्द्रसूरिजीने अपने गुरुदेवकी अन्तिम आदर्श भावनाको सफलीभूत बनानेके लिये सं० १६१३ में बीकानेरमें क्रिया-उद्धार किया *। इसी प्रकार तपागच्छमें आनन्दविमलसूरिजीने सं० १५८२ में, नागोरी तपागच्छके पार्श्वचन्द्रसूरिजीने सं० १५६५ में, अञ्चलगच्छके धर्ममूर्त्तिसूरिजीने सं० १६१४ में क्रिया-उद्धार किया।

सत्रहवीं शताब्दीमें साध्वाचार यथारीति पालन होने लगा। पर वह परम्परा भी अधिक दिन कायम नहीं रह सकी,फिर उसी शिथिलताका आगमन होना शुरू हो गया; १६८७ के दुष्काल†का भी इसमें कुछ हाथ था। अठारहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें शिथिलताका रूप प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा,खरतरगच्छमें जिनसूरिजीके पट्टधर,जिनचन्द्र सूरिजीने शिथिलाचार पर नियंत्रण करनेके लिये

‡ उदाहरणके लिये सं० १५५७ में लोंकामतसे बीजामत निकला जिसने मूर्तिपूजा स्वीकृत की। (धर्मसागर-रचित पदावली एवं प्रवचन परीक्षा)। जैनेतर समाजमें भी इस समय कई मूर्तिपूजाके विरोधी मत निकले पर अन्तमें उन्होंने भी मूर्तिपूजा स्वीकार की।

* विशेष जाननेके लिये देखें हमारे द्वारा लिखित 'युग-प्रधान जिनचन्द्र सूरि' ग्रन्थ।

† इस दुष्कालका विशद वर्णन कविवर समयसुन्दरने किया है, जो कि मेरे लेखके साथ श्री जिनविजयजी द्वारा सम्पादित 'भारतीय विद्या' के दूसरे अंकमें शीघ्र ही प्रगट होगा। इस दुष्कालके प्रभावसे उत्पन्न हुई शिथिलताके परिहारार्थ समयसुन्दरजीने सं० १६९२ में क्रिया-उद्धार किया था।

सं० १७१८ की विजयादशमीको) कुछ नियम † बनाये। एक बातका स्पष्टीकरण करना यहाँ आवश्यक है कि यद्यपि शिथिलाचार अपना प्रभाव दिन ब दिन बढ़ा रहा था फिर भी उस समय

† समय समय पर गच्छकी सुव्यवस्थाके लिये ऐसे कई व्यवस्थापत्र तपा और खरतर गच्छके आचार्योंने जारी किये जिनमें से प्रकाशित व्यवस्थापत्रों की सूची इस प्रकार है:--

१ जिनप्रभसूरि (चौदहवीं शताब्दी) का 'व्यवस्थापत्र' (प्र० जिनदत्त सूरि चरित्र--जयसागर सूरि लि०)

२ तपा सोमसुन्दर सूरि-रचित संविज्ञ साधु योग्य-कुलकके नियम (प्र० जैनधर्म प्रकाश, वर्ष ५२ अंक ३ पृ०३)

३ सं० १५८३ ज्येष्ठ; पट्टनमें तपागच्छीय आनन्द विमल सूरिजीका 'मर्य्यादापट्टक' (प्र० जैनसत्यप्रकाश वर्ष २ अङ्क ३ पृ० ११२)

४ सं० १६१३ यु० जिनचन्द्रसूरिजीका क्रिया-उद्धार नियम पत्र (प्र० हमारे द्वारा लि० युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि)

५ सं० १६४६ पो० सु० १३ पत्तने हीरविजय सूरिपट्टक (जैनसत्य प्रकाश वर्ष २ अङ्क २ पृ० ७५)

६ सं० १६७७ वै० सु० ७ सावलीमें विजयदेव सूरिका 'साधुमर्यादापट्टक' (प्र० जैनधर्म प्रकाश वर्ष ५२ अङ्क १ पृ० १७)

७ सं० १७११ मा० सु० १३ पत्तन, विजयसिंह सूरि (प्र० जै० धर्म प्रकाश वर्ष ५२ अंक २ पृ० ५५)

८ सं० १७३८ मा० सु० ६ 'विजय क्षमासूरि पट्टक' (जैन सत्यप्रकाश वर्ष २ अंक ६ पृ० ३७८)

९ उपर्युक्त जिनचन्द्रसूरिजीका पत्र अप्रकाशित हमारे संग्रहमें है।

इन मर्यादा-पट्टकोंसे तत्कालीन यति समाजकी अवस्थाका बहुत कुछ परिचय मिलता है । नं० ९ व्यवस्थापत्र अप्रकाशित होनेके कारण उससे तत्कालीन परिस्थितिका जो तथ्य प्रकट होता है वह नीचे लिखा जाता है:--

१ यतियोंमें क्रय-विक्रयकी प्रथा ज़ोर पर हो चली थी, श्रावकोंकी भाँति ब्याज-बट्टेका काम भी जारी हो चुका था, पुस्तकें लिख लिख कर बेचने लगे थे । शिक्षादिका भी क्रय विक्रय होता था ।

२ वे उद्भट उज्वल वेष धारण करते थे । हाथमें धारण करने वाले दंडेके ऊपर दाँतका मोगरा और नीचे लोहेकी साँब भी रखते थे ।

३ यति लोग पुस्तकोंके भारको वहन करनेके लिये शकट, ऊंट, नौकर आदि साथ लेते थे ।

४ ज्योतिष वैद्यक आदिका प्रयोग करते थे; जन्म पत्रियाँ बनाते व औषधादि देते थे।

५ धातुका भाजन, धातुकी प्रतिमादि रख पूजन करते थे।

६ सात आठ वर्षसे छोटे एवं अशुद्ध जातिके बालकोंको शिष्य बना लेते थे, लोच करनेके विषयमें एवं प्रतिक्रमणकी शिथिलता थी ।

७ साध्वियोंको विहारमें साथ रखते थे व ब्रह्मचर्य यथारीति पालन नहीं करते थे ।

८ परस्पर झगड़ा करते थे, एक दूसरेकी निन्दा करते थे ।

(अठारहवीं शताब्दीके यति और श्रीपूज्योंके पारस्परिक युद्धों तथा मारपीटके दो बृहद् वर्णन हमारे संग्रहमें भी हैं)

जैनाचार्योंका प्रभाव साधु एवं श्रावक संघ पर बहुत अच्छा था, अतः उनके नियंत्रणका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता था। उनके आदेशका उल्लंघन करना मामूली बात नहीं थी, उल्लंघनकारीको उचित दण्ड मिलता था। आज जैसी स्वच्छन्द-चारिता उस समय नहीं थी। इसीके कारण सुधार होनेमें सरलता थी।

अठारहवीं शताब्दीमें गच्छ-नेता गण स्वयं शिथिलाचारी हो गये, अतः सुधारकी ओर उनका लक्ष्य कम हो गया। इस दशामें कई आत्मकल्याणेच्छुक मुनियोंने स्वयं क्रिया उद्धार किया। उनमें, खरतर गच्छमें श्रीमद्देवचन्द्रजी (सं० १७७७) और तपागच्छमें श्रीसत्यविजयजी पन्यास प्रसिद्ध हैं। उपाध्याय यशोविजयजी भी आपके सहयोगी बने इस समयकी परिस्थितिका विशद विवरण उपाध्याय यशोविजयजीके "श्रीमंधरस्वामी" विनती आदिमें मिलता है।

अठारहवीं शताब्दीके शिथिलाचारमें द्रव्य रखना प्रारम्भ हुआ था। पर इस समय तक यति-समाजमें विद्वत्ता एवं ब्रह्मचर्य आदि सद्गुणोंकी कमी नहीं थी। वैद्यक, ज्योतिष आदिमें इन्होंने अच्छा नाम कमाना आरम्भ किया। आगे चल कर उन्नीसवीं शताब्दीसे यति-समाजमें दोनों दुर्गुणों (विद्वत्ताकी कमी और असदाचार) का प्रवेश होने लगा। आपसी झगड़ोंने आचार्योंकी सत्ता और प्रभावको भी कम कर दिया। १८ वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें क्रमशः दोनों दुर्गुण बढ़ते नजर आते हैं। वे बढ़ते बढ़ते वर्त्तमान अवस्थामें उपस्थित हुए हैं। कई श्रीपूज्योंने यतिनियोंका दीक्षित करना व्यभिचारके प्रचारमें साधक समझ कर यतिनियोंको दीक्षा देना बन्द कर दिया। इनमें खरतर गच्छके जयपुर शाखा वाले भी एक हैं। उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें तो यति लोग मालदार कहलाने लग गये। परिग्रहका बोझ एवं विलासिता बढ़ने लगी। राजसम्बन्धसे कई गाँव जागीरके रूपमें मिल गये, हजारों रुपये वे ब्याज पर धरने लगे, खेती करवाने लगे, सवारियों पर चढ़ने लगे, स्वयं गाय, भैंस, ऊँट इत्यादि रखने लगे। संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे एक प्रकारसे घर-गृहस्थोंसे बन गये। उनका परिग्रह राजशाही ठाट-बाट-सा हो गया। वैद्यक, ज्योतिष, मंत्र तंत्रमें ये सिद्धहस्त कहलाने लगे और वास्तवमें इस समय इनकी विशेष प्रसिद्धि एवं प्रभावका कारण ये ही विद्याएँ थीं। अठारहवीं शताब्दीके सुप्रसिद्ध सुकवि धर्मवर्द्धनजीने भी अपने समयके यतियोंकी विद्वत्ता एवं प्रभावके विषयमें कवित्त रचना करके अच्छा वर्णन किया है।

औरङ्गजेबके समयसे भारतकी अवस्था फिर शोचनीय हो उठी, जनताको धन-जन उभय प्रकारकी काफी हानि उठानी पड़ी। आपसी लड़ाइयोंमें राज्यके कोष खाली होने लगे तो उन्होंने भी प्रजासे अनुचित लाभ उठा कर द्रव्य संग्रहकी ठान ली। इससे जनसाधारणकी आर्थिक अवस्था बहुत गिर गई; जैन श्रावकोंके पास भी नगद रुपयोंकी बहुत कमी हो गई। जिनके पास ५-१० हजार रुपये होते वे तो अच्छे साहूकार गिने जाते थे, साधारणतया ग्राम-निवासी जनताका मुख्य आधार कृषिजीवन था, फसलें ठीक न होनेके कारण उसका भी सहारा कम होने लगा, तब

श्रावक लोग, जो साधारण स्थितिके थे, यतियोंके पास ब्याज पर रुपये लेने लगे। अतः आर्थिक सहायताके कारण कई श्रावक यतियोंके दबेलसे बन गये, कई वैद्यक-तंत्र-मंत्र आदि द्वारा अपने स्वार्थ साधनोंमें सहायक एवं उपकारी समझ उन्हें मानते रहे, फलतः संघसत्ता क्षीण-सी हो गई। यतियोंको संघसत्ता-द्वारा भूल बतला कर पुनः कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ करनेकी सामर्थ्य उनमें नहीं रही। इससे निरंकुशता एवं नेतृत्वहीनताके कारण यति समाजमें शिथिलाचार स्वच्छंदतासे पनपने एवं बढ़ने लगा। यतिसमाजने भी रुख बदल डाला। धर्मप्रचारके साथ साथ परोपकार को उन्होंने स्वीकार किया. श्रावक आदिके बालकों को वे पढ़ाई कराने लगे, जन्मपत्री बनाना, मुहूर्त्तादि बतलाना रोगोंके प्रतिकारार्थ औषधोपचार चालू करने लगे जिनसे उनकी मान्यता पूर्ववत बनी रहे।

उनकी विद्वताकी धाक राज दरबारोंमें भी अच्छी जमी हुई थी, अतः राजाओंमें उन्हें अच्छा सन्मान प्राप्त था, अपने चमत्कारोंसे उन्होंने काफ़ी प्रभाव बढ़ा रक्खा था। इस राज्य-सम्बन्ध एवं प्रभावके कारण स्थानकवासी मत निकला तब उनके साधुओंके लिये इन्होंने बीकानेर, जोधपुर आदिसे ऐसे आज्ञापत्र भी जारी करवा दिये थे जिनसे वे उन राज्योंमें प्रवेश भी नहीं कर सकें।

१८ वीं शताब्दी तक यति-समाजमें ज्ञानोपासना सतत चालू थी, अतः इनके रचित बहुतसे अच्छे अच्छे ग्रन्थ इस समय तकके मिलते हैं; पर १९ वीं शताब्दीसे ज्ञानोपासना क्रमशः घटती चली (अतः इस शताब्दीके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ बहुत कम मिलते हैं) और वह घटते घटते वर्त्तमान अवस्थाको प्राप्त हो गई।

यतिसमाजकी पूर्वावस्थाके इतिहास पर सरसरी तौरसे ऊपर विचार किया गया है। इस उत्थान-पतनकालके मध्यमें यतिसमाजमें धुरंधर विद्वान, शासन प्रभावक, राज्यसन्मान-प्राप्त अनेक महापुरुष हो गये हैं, जिन्होंने जैनशासनकी बड़ी भारी सेवा की है, प्रभाव विस्तार किया है, अन्य आक्रमणोंसे रक्षा की एवं लाखों जैनेतरोंको जैन बनाया, हजारों अनमोल ग्रंथरत्नोंका निर्माण किया जिसके लिये जैन समाज उनका चिर ऋणी रहेगा। अब यति समाजकी वर्तमान अवस्थाका अवलोकन करते हुए इसका पुनः उत्थान कैसे हो सकता है। इस पर मैं अपने विचार प्रकट करता हूँ। यद्यपि वर्त्तमान अवस्था * का वास्तविक चित्र देनेसे तो लेखके अश्लील अथवा कुछ बातों के कटु हो जानेका भय है एवं वह सबके सामने ही है, अतः विशद वर्णनकी आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती! फिर भी थोड़ा स्वरूप दिखलाये बिना भविष्यके सम्बन्धमें कुछ कहना उचित नहीं होगा।

जो पहले साधु या मुनि कहलाते थे, वे ही यति कहलाते हैं। पतनकी करीब करीब चरम सीमा हो चुकी है। जो शास्त्रीय ज्ञानको अपना आभूषण समझते थे, ज्ञानोपासना जिनका व्यसन सा था, वे अब आजीविका, धनोपार्जन और प्रतिष्ठा-

* इसका संक्षेपमें कुछ वर्णन कालूरामजी बरड़िया लिखित 'ओसवाल समाजकी वर्त्तमान परिस्थिति' ग्रंथ में भी पाया जाता है।

रक्षाके लिये वैद्यक, ज्योतिष और मंत्र-तंत्रके ज्ञान को ही मुख्यता देने लगे हैं। कई महात्मा तो ऐसे मिलेंगे जिन्हें प्रतिक्रमणके पाठ भी पूरे नहीं आते। गम्भीर शास्त्रालोचनके योग्य तो अब शायद ही कोई व्यक्ति खोजने पर मिले। क्रियाकाण्डोंको जो करवा सकते हों (प्रतिक्रमण, पोसह, पर्व-व्याख्यान-वाचन, तप उद्यापन एवं प्रतिष्ठाविधि) वे अब विद्वान गिने जाने लगे हैं।

जिस ज्ञानधनको उनके पूर्वजोंने बड़े ही कष्ट से लिख लिख कर संचित एवं सुरक्षित रखा, वे अमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थोंको सँभालते तक नहीं। वे ग्रंथ दीमकोंके भक्ष्य बन गये, उनके पृष्ठ नष्ट हो गये, सर्दी आदिमें सुरक्षा न कर सकनेके कारण ग्रन्थोंके पत्र चिपक कर थेपड़े हो गये। (हमारे संग्रहमें ऐसे अनेक ग्रंथ सुरक्षित हैं)। नवीन रचनेकी विद्वत्ता तो सदाके लिये प्रणाम कर बिदा हुई; पुराने संचित ज्ञानधनकी भी इतनी दुर्दशा हो रही है कि सहृदय व्यक्तिमात्रको सुन कर आँसू बहाने पड़ रहे हैं। सहज विचार आता है कि इन ग्रंथोंको लिखते समय उनके पूर्वजोंने कैसे भव्य मनोरथ किये होंगे कि हमारे सपूत इन्हें पढ़ पढ़ कर अपनी आत्मा एवं संसारका उपकार करेंगे। पर आज अपने ही योग्य वंशजोंके हाथ इन ग्रंथों की ऐसी दुर्दशा देखकर पूर्वजोंकी स्वर्गस्थ आत्माएँ मन ही मन न जाने क्या सोचती होंगी? उन्होंने अपने ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंमें कई बातें ऐसी लिख रखी हैं कि उन्हें ध्यानसे पढ़नेवाला कोई भी व्यक्ति ऐसा काम नहीं कर सकता।

"भग्नपृष्ठिकटिग्रीवा, वक्रदृष्टिरधोमुखम्।
(बद्धमुष्टिकटिग्रीवा, मँददृष्टिरधोमुखम्)
कष्टेन लिख्यते शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत्॥"

एवं ग्रन्थोंकी सुरक्षाकी व्यवस्था करते हुये लिखा है—

जलाद्रक्षेत् स्थलाद्रक्षेत् रक्षेत् शिथिलबन्धनात्।
मूर्खहस्ते न दातव्या एवं वदति पुस्तिका॥
अग्ने रक्षेत् जलाद्रक्षेत् मूषकेभ्यो विशेषतः।
(उदकानिलचौरेभ्यो मूषकेभ्यो हुताशनात्।)
कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन परिपालयेत्॥

मुनि आचारकी तो गंध भी नहीं रहने पाई; पर जब हम उन्हें श्रावकोंके कर्त्तव्यसे भी च्युत देखते हैं, तब कलेजा धड़क उठता है, बुद्धि भी कुछ काम नहीं देती कि हुआ क्या? भगवान् महावीरकी वाणीको सुनाने वाले उपदेशकोंकी* भी क्या यह हालत हो सकती है? जिस बातकी सम्भावना तो क्या, कल्पना भी नहीं की जा सकती, आज वह हमारे सामने उपस्थित है। बहुतों के तो न रात्रिभोजनका विचार, न अभक्ष्य वस्तुओंका परहेज़, न सामायिक प्रतिक्रमण या क्रियाकाण्ड और न नवकारसीका पता। आज इनमें कई व्यक्ति तो भांग-गाँजा आदि नशीली चीजोंका सेवन करते हैं, बाजारोंमें वृष्टि आदिका सौदा करते हैं। उपाश्रयोंमें रसोई बनाते हैं, व्यभिचारका बोलबाला है। अतएव जगतकी दृष्टिमें वे बहुत

---

* श्वेताम्बर समाजमें जिस प्रकार यति समाज है; दिगम्बर समाजमें लगभग वैसे ही भट्टारक प्रणालीका इतिहास आदि जाननेके लिये जैनहितैषीमें श्रीनाथूरामजी प्रेमीका निबंध एवं जैनमित्र कार्यालय सूरतसे प्राप्त "भट्टारक-मीमांसा" ग्रन्थ पढ़ना चाहिये।

गिर चुके हैं ‡। पंच महाव्रतोंका तो पता ही नहीं, अणुव्रतधारी श्रावकोंसे भी इनमें से कई तो गये बीते हैं।

कहाँ तक कहें—विद्वत्ता भी गई, सदाचार भी गया, इसीलिये स्थानकवासी एवं तेरह पन्थियोंकी बन आई, वे उनके चरित्रोंको वर्णन कर अपने अनुयायियोंकी संख्या बढ़ाने लगे। जैनेतर लोग गुरुजीके चरित्रोंको लेकर मसखरी उड़ाने लगे। जिनके पूर्वजोंने नवीन नवीन ग्रंथ रचकर अजैनोंको जैन बनाया, अपनी विद्वत्ता एवं आचार-विचारके प्रभावसे राजाओं तथा बादशाहों पर धाक जमाई, वे ही आज जैनधर्मको लाँछित कर रहे हैं!

यतिनियोंकी तो बात ही न पूछिये, उनके पतनकी हद हो चुकी है, उनकी चरित्रहीनता जैन-समाजके लिये कलंकका कारण हो रही है!

"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः!"

महात्मा भर्तृहरिकी यह उक्ति सोलहों आने सत्य है। मनुष्यका आदर व पूजन उसके गुणों हीके कारण होता है। गुणविहीन वही मनुष्य पद पद पर ठुकराया जाता है। यतियोंका भी समाज पर प्रभाव तभी तक रहा जब तक उनमें एक न एक गुण (चाहे ज्ञान हो, विद्वत्ता हो, वैद्यक हो; मंत्रादिका ज्ञान अथवा परोपकारकी भावना हो) अनेक रूपोंमें विद्यमान रहा। ज्यों ज्यों उन गुणोंके अस्तित्वका विलोप होता गया त्यों त्यों उनका आदर कम होने लगा। अन्तमें आज जो हालत हुई है उसके वह स्वयं भुक्तभोगी हैं। न तो उनको कोई भक्तिसे वंदन करता है, न कोई श्रद्धाकी दृष्टिसे उन्हें देखता है। गोचरीमें भी पहले अच्छे अच्छे पदार्थ मिलते थे, आज बिना भावके, केवल परिपाटीके लिहाज़से बुरीसे बुरी वस्तुएँ उन्हे बहराई जाती हैं। बातर में उनका तिरस्कार किया जाता है, कई व्यक्ति तो उनसे घृणा तक करते हैं। उनका आदर भक्तिशून्य और भाव विहीन, केवल दिखावेका रह गया है, अतः उनका भविष्य कितना अन्धकारमय है, पाठक स्वयं उस सोचा नहा जा सकता। जनधर्मका ज्ञान उनसे देखकर अतिशय परिताप है, हृदय बेचैन-सा हो जाता है। अगर निकट भविष्यमें यह समाज न संभला तो इसका कहाँ तक पतन होगा यह सोचा नहीं जा सकता। जैनधर्मका ज्ञान उनसे किनारे हो रहा है अतः मथेरणोंकी भांति ये अगर

---

‡ इसीलिये राजपूताना प्रांतीय प्रथम यति सम्मेलन (संवत १९९१, बीकानेर) में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये गये थे। खेद है उनका पालन नहीं हो सका—(१) उद्भट वेश न रखना। (२) दवा आदिके सिवा ज़मीकन्द आदिके त्यागका भरसक प्रयत्न करना (३) दवा आदिके सिवा पंच तिथियों में हरी वनस्पति आदिके त्यागका भरसक प्रयत्न करना (४) रात्रि भोजनके त्यागकी चेष्टा करना। (१०) आवश्यकताके सिवाय रातको उपाश्रयसे बाहर न होना (२०) अंग्रेज़ी फैशनके बाल न रखना (२२) दीक्षित यतिको साग सब्जी खरीदनेके समय प्रगट है कि वर्तमानमें इन सब बातोंके विपरीत प्रचार साईकिल पर बैठ बाज़ार न घूमना। (पंच प्रतिक्रमण के ज्ञाता न होने तक किसीको दीक्षा न देना। (२६) पर्वतिथियोंमें प्रतिक्रमण अवश्य करना। इन प्रस्तावोंसे प्रगट है कि वर्तमानमें इन सब बातोंके विपरीत प्रचार है, तभी इनका विरोध समर्थनकी आवश्यकता हुई।

जैनधर्मको भी छोड़ बैठें तो कोई आश्चर्य नहीं है। समाज इनसे असन्तुष्ट है, ये समाजसे। अतएव सुधारकी परमावश्यकता है यह तो हर एक को मानना पड़ेगा। यतिसमाजकी यह दशा आँखों देखकर विवेकी यतियोंके हृदयमें आजसे ३५ वर्ष पूर्व ही सामूहिक सुधारकी भावना जागृत हुई थी, खरतर गच्छके बालचन्द्राचार्यजी आदिके प्रयत्न के फलसे सं०१९६३ में उनकी एक कान्फ्रेन्स हुई थी और उसमें कई अच्छे प्रस्ताव भी पास हुए थे यथा—(१) व्यावहारिक और धार्मिक शिक्षा का सुप्रबन्ध (२) बाह्य व्यवहार शुद्धि (३) ज्ञानोपकरणकी सुव्यवस्था (हस्तलिखित ग्रन्थोंका न बेचना (४) संगठन (५) यति डायरेक्टरी इत्यादि; पर प्रस्तावोंकी सफलता तभी है जब उनका ठीक ठीक पालन किया जाय। पालन होनेके दो ही मार्ग हैं—(१) स्वेच्छा और (२) संघसत्ता। स्वेच्छासे जो पालन करे वे तो धन्य हैं ही, पर जो न करें, उनके लिये संघसत्ताका प्रयोग करने लायक सुव्यवस्थाका अभी तक अभाव ही है।

उस कॉन्फ्रेंसका दूसरा अधिवेशन हुआ या नहीं, अज्ञात है। अभी फिर सं० १९९१ में बीकानेर राजपूताना प्राँतीय यति-सम्मेलन हुआ था और उसका दूसरा अधिवेशन भी फलौदीमें हुआ था, पर सभी कुछ परिणाम शून्य ही रहा। अस्तु।

अब भी समय है कि युगप्रधान जिनचन्द्र सूरिजीकी तरह × कुछ सत्ता बलका भी प्रयोग किया जाना चाहिये। जो भी साधारण मर्यादि बनायें जायँ वे पूरी मुस्तदीसे पालन किये-करवाये जायँ। जो विरुद्ध आचरण करें उन्हें बहिष्कृत कर समाजसे उनका सम्बन्ध तोड़ दिया जाय, इस प्रकार कठोरतासे काम लेना होगा। जो पालन न कर सकें वे दिगम्बर पंडितोंके तौर पर गृहस्थ बन जावें और उपदेशकका काम करें।

एक विद्यालय, ब्रह्मचर्य आश्रम केवल यति-शिष्योंकी शिक्षाके लिये खोला जाय। यहाँ पर अमुक डिग्री तक प्रत्येक यतिशिष्यको पढ़ना लाज़िमी किया जाय, उपदेशकके योग्य पढ़ाईकी सुव्यवस्था की जाय। उनसे जो विद्यार्थी निकलें उनके खर्च आदिका योग्य प्रबंध करके उन्हें स्थान स्थान पर उपदेशकोंके रूपमें प्रचार कार्यमें नियुक्त कर दें, ताकि उन्हें जैनधर्मकी सेवाका सुयोग्य मिले। श्रावक समाजका उसमें काफी सहयोग होना आवश्यक है। हम अपनी सद्भावना एवं सहायतासे ही गिरे हुये यतिसमाजको उन्नत बना सकते हैं, घृणासे नहीं।

आशा है कि जैनसमाजके कर्णधार एवं उन्नतिकी महद् आकाँक्षा वाले विद्वान् यति श्रीपूज्य मार्गविचार-विनिमय द्वारा भविष्यको निर्धारित करनेमें उचित प्रयत्न करेंगे।

मैंने यह निबंध द्वेषवश या यतिसमाजको नीचा दिखलानेकी भावनासे नहीं लिखा। मेरे हृदयमें उनके प्रति सद्भावनाका जो श्रोत निरन्तर प्रभावित है उसके एवं उनकी अवनतिको देख कर जो परिताप हुआ, उसकी मार्मिक पुकारसे विवश होकर ही इस प्रबंधको मैंने लिखा है। आशा है पाठक इसे उसी दृष्टिसे अपनावेंगे और

× देखें, हमारे द्वारा लिखित युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि' ग्रन्थ। उन्होंने जो साध्वाचार न पालन कर सके, उन्हें गृहस्थवेष दिलवा मथेरण बनाया जिससे साधु-संस्था कलंकित न हो।

यदि इसमें कोई कटु अथवा अयोग्य वाक्य नजर आवे तो उसे दुखित हृदयके दावानलकी चिङ्गारी समझ मुझे क्षमा करेंगे। एक स्पष्टीकरण और भी आवश्यक है कि—इस लेखमें जो कुछ कहा गया है वह मुख्यताको लक्ष्यमें रखकर ही लिखा है, अन्यथा क्या यति समाजमें और क्या चैत्य-वासियोंमें पहले भी बहुत प्रभावक आचार्य एवं महान् आत्माएँ हुई हैं एवं अब भी कई महात्मा बड़े उच्च विचारोंके एवं संयमी हैं। इनको मेरा भक्तिभावसे वंदन है। उन महानुभावोंके गुण-वर्णनमें मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ।

यतिसमाज ही क्यों साधु समाजकी दशा भी विचारणीय एवं सुधारयोग्य है। उस पर भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। समयका सुयोग मिला तो भविष्यमें इन दोनों समाजों पर एवं इसी प्रकार जैनधर्मके क्रियाकाण्डोंमें जो विकृति आ गई है, उस पर भी प्रकाश डालनेका विचार है।

'तरुण ओसवाल' से उद्धृत

—×—

जीवन के अनुभव—

बावली घास

[लेखक—श्री हरिशंकर शर्मा]

बावले आदमी, बावले कुत्ते, बावले गीदड़, बावले बन्दर आदि तो सबने देखे-सुने होंगे, परन्तु 'बावली घास' से बहुत कम लोग परिचित हैं। फिर मजे की बात यह है कि पशु पक्षी और मनुष्य तो बावले होकर जीव-जन्तुओंकी जानके गाहक बन जाते हैं; परन्तु 'बावली घास' मरते हुए को अमृत पिलाती है, और उसे दुःखसे मुक्त कर वर्षों जिलाती है। एक सर्वथा सत्य घटनाके आधार पर आज हम पाठकोंको बावली घास का कुछ परिचय कराते हैं।

मेरे पूज्य पिता (स्वर्गीय पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा) चायके बड़े आदी थे। उनकी यह टेव व्यसन तक पहुँच गई थी। वे सुबह-शाम दोनों वक्त आध आध सेर चायका पानी पीते। यहाँ तक कि बैसाख और जेठमें भी उसे न छोड़ते थे। तिस पर भी तुर्रा यह कि कटोरा-भर चायमें दूधका नाम नहीं। अगर भूलसे चायमें एक चम्मच भी दूध पड़ जाय, तो वे उसे अस्वीकार कर दें। प्रकृति भला किसको क्षमा करने वाली है? पिताजी पर भी उसका कोप हुआ, और उन्हें भयंकर रक्तार्श (खूनी बवासीर) से व्यथित होना पड़ा। यह घटना अबसे ३० वर्ष पहिले की है।

* * *

पहले तो पिताजीके शौच-मार्गसे थोड़ा-थोड़ा खून आया, फिर तिल्लियाँ बँधने लगीं। यहाँ तक कि वे

चारपाई पर पड़ गए। निर्बलता हद दरजे की हो गई। पिताजीके घनिष्ट मित्र साहित्याचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा भी बीमारीका हाल सुनकर हरदुआगञ्ज आ गए। उस समय हम लोगोंकी चिंताका ठिकाना न था, तरह २ के इलाज-मुआलजे कराए गए। कनखल-निवासी वैद्यराज स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शर्माने आयुर्वेदोक्त औषधियाँ दीं, और भी कई प्रसिद्ध वैद्योंकी चिकित्सा हुई; कितने ही डाक्टरोंका ईलाज कराया गया; परन्तु खून बहना बन्द न हुआ। पिताजीको परेशानी और कमज़ोरीका ठिकाना न रहा। उनका मोटा ताजा शरीर सूख कर काँटा बन गया। करवट बदलने और बात करनेमें भी कष्ट होने लगा। हम लोगोंकी चिंता निराशामें परिणित हो गई। स्वयं पिताजीको अच्छा होनेकी उम्मेद न रही। बीसियों मिलने-जुलने वाले रोज आते और बड़ी मन्द वाणीमें, अत्यंत उदासीनताके साथ, "जब तक सांस तब तक आस" की लोकोक्ति सुनाकर चले जाते। इस समय तक हम लोगोंमें अगर किसीका धैर्य नहीं छूटा था, तो वह थे पं० पद्मसिंह शर्मा। शर्माजी सबको धैर्य बँधाते हुए बराबर प्रयत्नशील बने रहनेका प्रोत्साहन देते रहे। हमारे हृदय निराशासे भर चुके थे, केवल बाहरी बचन-विलासमें आशावादिताकी झलक दिखाई देती थी, सो भी रोगीको बहकाने या दम-दिलासा देने के लिए।

* * *

अन्तमें पं० पद्मसिंह शर्माके परामर्शसे एक मशहूर जर्राह बुलाया गया। जर्राह आया, मगर मरीज़को देख कर उसके होश उड़ गए, अक्ल चकरा गई। कहने लगा—"उफ, ऐसी कमज़ोरी! इतनी नकाहत! इस हालतमें भला नश्तर कैसे लगाया जाय? जहाँ करवट बदलनेमें दम निकलनेका अन्देशा हो, वहाँ कैसी चीर-फाड़?" शर्माजीको सम्बोधित होकर बोला—"पंडित साहब! मैंने आपके दोस्तको बड़े ग़ौरसे देखा, मरज़ बहुत बढ़ गया है, मेरे बसकी बात नहीं रही। बाबू-साहब, माफ करना, ऐसी हालत देख कर मेरा तो कलेजा काँपता है. नश्तरका तो कोई सवाल ही नहीं। मैं भी खुदावन्द तालासे दुआ करूँगा कि वह इन पंडितजीको जलदसे जलद शफ़ा बख्शे। बस, इतना ही मेरे इमकानमें है। और कुछ नहीं। अच्छा, मैं जाता हूँ, आदाब अर्ज़।"

जिस जर्राहके लिए श्री स्व० पद्मसिंह शर्माने इतना ज़ोर दिया, जिसके नश्तरकी रवानगी पर सारा घर टकटकी लगाए बैठा था, जिसके दस्ते-मुबारिक पर काफी भरोसा था, वह भी टका-सा जवाब देकर चलता बना। अब शर्माजीके हृदयमें भी निराशाका समुद्र उमड़ने लगा। उनकी भावुकता, जो अब तक धैर्यके बन्धनसे जकड़ी पड़ी थी, आँखोंमें झलझला आई। उन्होंने अपनेको बहुत कुछ सँभालते हुए, भरे हुए कण्ठसे कहा "भाई, अब हम लोगोंका फ़र्ज़ है कि 'कविजीकी खूब सेवा करें और उन्हें ज़रा भी तकलीफ़ न होने दें, जिससे जो टहल-चाकरी बन पड़े, करनी चाहिए। फिर तो कविजीकी सूरत भी···" कहते २ शर्माजीकी हिचकियाँ बँध गईं, और हम सब बुरी तरह व्याकुल होने लगे। मेरी माता और हम सब बुरी तरह व्याकुल होने लगे। मेरी माताने तो चिन्ताके कारण कई दिनोंसे अन्न तक त्याग दिया था। वह पाँच-सात मुनक्के (दाख) खाकर रात-दिन पिताजी की चारपाई पकड़े बैठी रहती थीं।

* * *

पिताजी जहाँ प्रसिद्ध कवि थे, वहाँ चिकित्सक भी बड़े अच्छे थे। बड़े २ रोगोंका सफलतापूर्वक इलाज करना उनके लिये साधारण बात थी। दूर-दूरके लोग उनसे चिकित्सा कराने आते रहते थे। उन्होंने चिकित्सा कार्यसे निर्वाह अवश्य किया; परन्तु धनी होनेकी बात कभी स्वप्नमें भी न सोची। उनकी बताई कौड़ियोंकी दवासे रोगी बराबर अच्छे होते रहते थे। उनकी फीस निश्चित न थी, जिसने जो दे दिया ले लिया, ग़रीबोंसे तो कुछ लेते ही न थे बल्कि उनकी दवा-दारू और पथ्य-की व्यवस्था भी उन्हें करनी पड़ती थी। इस सेवा-भावके कारण पिताजी बड़े लोक-प्रिय हो गये थे। किसान, गरीब तथा अछूत लोग उन पर अपना पूरा अधिकार समझते थे। पिताजी भी अमीरोंसे पीछे बात करते, पहले गरीबोंकी कष्ट-कथा सुनते थे। इसलिये बीमारीमें उनके भक्त दर्शनार्थियोंका ताँता लगा रहता था।

* * *

"क्यों भाई कैसे आए, कहाँ रहते हो ?" सामने खड़े हुए एक ग्रामीण भाईसे पं० पद्मसिंह शर्माने बड़ी उदासीनतासे पूछा।

"पण्डितजीकी बीमारीका हाल सुनकर आया हूँ··· का पटवारी हूँ सुना है, उन्हें बवासीरकी बीमारी है।" —मोटे झोटे कपड़े पहने हुए उस आगन्तुकने उत्तर दिया।

"अरे भई ! अब पण्डितजीको क्या देखोगे ? दो-एक दिनके मेहमान हैं। मिलने जुलनेसे उन्हें कष्ट होता है। मैं सुबहसे अब तक लगभग ५० आदमियों को उनके पास जानेसे रोक चुका हूँ आप भी क्षमा करें।"—शर्माजी बड़ी निराशा और दुःखसे बोले।

"नहीं साहब, मैं पण्डितजीके दर्शन करके लौट जाऊँगा। उन्होंने जीवन भर सबका भला किया है। मैं दस मील चल कर आया हूँ, ज़रा झाँकी तो कर लेने दीजिए।"

* * *

पटवारीजी पिताजीकी दशा देखकर दङ्ग रह गए। वे उन्हें देखकर बैठकमें आए और बड़ी निराशापूर्वक एक पुड़िया देते हुए बोले—"देखिये यह एक साधुकी बताई हुई बूटी है, खूनी बवासीरको तुरंत आराम कर देती है। मैंने इसे कितने ही मरीज़ों पर आजमाया है, सब अच्छे हो गए। यह ठीक है कि पण्डितजी बहुत कमज़ोर हैं, उनमें साँस ही साँस बाकी है, फिर भी परमात्माका नाम लेकर आप इस बूटीको उन्हें ज़रूर पिलाइये।"

पटवारीजीकी यह पुड़िया पं० पद्मसिंह शर्माने बड़े बेमनसे ली। खोलकर देखा, तो घास-फूस कूड़ा-करकट ? अरे, यह क्या बवाल ?

"नहीं, नहीं, बवाल नहीं, यह तो अमृत है। आप इस दवामेंसे दस माशे लेकर पन्द्रह-बीस काली मिर्च मिलवाइये और भंग की तरह घोट पीस तथा डेढ़ पाव जलमें छानकर अभी पिला दीजिए और इसी तरह सुबह पिलाइए। तीन-चार दिन करके तो देखिए, परमात्माने चाहा, तो आराम हो जायगा।" ग्रामीण भाईने कहा।

पं० पद्मसिंह शर्माके निराश हृदयमें एक बार फिर आशाका सञ्चार हुआ, उन्होंने मेरे भाई स्वर्गीय उमाशङ्करजीसे कहा— "लो इसे पीसो और छानो। कभी-कभी ऐसी जड़ी-बूटी बड़ा काम कर जाती हैं, फिर यह तो एक साधुकी बताई है।" शामको दवाकी पहली मात्रा दी गई और फिर सुबह पिलाई गई। इतने ही से खूनका वेग कुछ कम हुआ। निपट निराशा-निशामें आशाकी किरण

दिखाई दी। उदासीनता घटी, चिन्तामें कमी हुई, साहसने फिर उद्योगशीलताकी बाँह पकड़ी। चार दिन में खून आना बन्द हो गया। पिताजीको भी अपने जीवनकी आशा होने लगी, और उन्होंने अब उस घास-फूसको 'जीवन-मूरि' कहना शुरू किया।

पुड़ियाकी आठ खुराकें चार दिनमें खतम हो गईं। मैं ताँगा लेकर पटवारीजीके पास पहुँचा, २१) रु० और कुछ मिठाई उनके आगे रखकर निवेदन किया—"दीवानजी अब पिताजी अच्छे हैं। खून बन्द हो गया है, नींद आने लगी है, अब तो सिर्फ कमजोरी शेष है। थोड़ी दवा और दे दीजिए, बड़ी कृपा होगी। आपकी सेवामें हम लोगोंकी तरफसे यह तुच्छ भेंट अर्पित है, कृपया स्वीकार करें।"

पटवारीजीकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा, वे बोले—"पण्डितजी अच्छे हो गए, मैंने सब कुछ भर पाया। अब वे सैंकड़ोंका भला करेंगे। ऐसे परोपकारी जितने अधिक जीवें, उतना ही अच्छा। मैं वेद-हकीम नहीं हूँ। रुपए आप उठा लीजिए, मैं तो मुफ़्तमें यह बांटता रहता हूँ। मेरा लगता ही क्या है। आठ आने में मनों घास इकट्ठा हो जाती है। आप चाहें, तो इस मिठाई को मुहल्लेके बालकोंको बाँट सकते हैं, नहीं तो इसे भी ले जाइए। मैं कुछ भी न लूंगा।"

पटवारीजीका दो टूक इन्कार देखकर फिर इसरार करनेकी मेरी हिम्मत न हुई। रुपये उठा लिए और मिठाई बालकोंको बाँट दी। पटवारीजीने अबकी बार प्रचुर मात्रामें दवाई देते हुए कहा—"लीजिए, यह बीस दिनको काफी होगी। इसीसे पण्डितजी चलने-फिरने लगेंगे, भूख खूब लगेगी, दस्त साफ आवेगा। यह दवा जरा सर्दीसी करती है, उसकी फिक्र न करना। एक बात और सुनिए, अब दवाके लिए मेरे पास आने का कष्ट न करें। वह तो आपके हरदुआगंजके पास ही कपास, ज्वार, मक्के और बाजरेके खेतोंमें बहुत होती है। वहींसे ताजा उखड़वा मँगाइए और सुखाकर रख लीजिये। अभी तो कार्तिक ही है, आपको बहुत-सी घास मिल जायगी। यह गँवारू बूटी है। इधर गाँवके लोग इसे 'बावली घास' कहते हैं। इसका पौधा डेढ़ फुट ऊँचा होता है, पत्तियाँ लम्बी लगती हैं, फली भी आती हैं, जिनमें बीज होते हैं।"

अभिप्राय यह कि 'बावली घास' से पिताजी बिलकुल अच्छे हो गए। उनकी कृश काया फिर मोटी-ताजी और तन्दुरुस्त दिखाई देने लगी। पूज्य शर्माजी सेरों घास उखड़वा कर अपने साथ ले गए। पिताजीने भी खूब प्रचार किया। मैं भी प्रतिवर्ष पचासों पैकेट भेजता रहता हूँ। जो मित्र या परिचित मिलता है, बराबर उससे उसका जिक्र करता हूँ। अर्शके जिस रोगीको वह दी गई, उसीको लाभ हुआ।

न जाने भगवती वसुन्धराके गर्भमें क्या-क्या विभूतियाँ छिपी पड़ी हैं। संसारमें प्रकृति माताकी व्यापकता और विचित्रता समझने वाले बहुत थोड़े हैं, वे ही सच्चे ज्ञानी और पूरे पण्डित हैं। * (दीपकसे)

लोहामण्डी आगरा]

---

* यह घास क्वार-कातिकमें ही होती है। इस साल जितनी इकट्ठी की गई थी, वह सब बाँट दी गई।

अर्थप्रकाशिका और पं० सदासुखजी

[ले० पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

श्री उमास्वातिके तत्वार्थ सूत्रकी हिन्दी टीकाओंमें 'अर्थप्रकाशिका' अपना खास स्थान रखती है। इसमें प्राचीन जैन ग्रन्थोंके अनुसार सूत्रोंका स्पष्ट अर्थ ही नहीं दिया गया, बल्कि उनका विशद व्याख्यान एवं स्पष्टीकरण भी किया गया है—सूत्रमें आई हुई प्रायः उन सभी बातोंका इसमें यथेष्ट विवेचन है जिनसे तत्त्वार्थके जिज्ञासुओंको तत्वार्थ विषयका बहुत कुछ परिज्ञान हो जाता है। टीकाकी प्रामाणिकताके विषयमें पण्डित सदासुखदासजीके निम्न उद्गार खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। जिनसे स्पष्ट है कि इस टीका में जो कुछ विशेष कथन किया गया है वह सब राजवार्तिक, गौम्मटसार और त्रिलोकसार आदि ग्रन्थोंका आश्रय लेकर किया गया है—पंडितजीने अपनी ओरसे उसमें एक अक्षर भी नहीं लिखा है। वे तो सूत्र-विरुद्ध लिखने वालेको मिथ्यादृष्टि और सूत्रद्रोही तक बतलाते हैं। और ऐसा करने को बहुत ही ज्यादा अनुचित समझते हैं, और इसलिये ऐसे सूत्रकी आज्ञानुसार वर्तने वाले तथा पाप भयसे भयभीत विद्वानोंके द्वारा अन्यथा अर्थ के लिखे जानेकी सम्भावना प्रायः नहींके बराबर है। पंण्डितजीके वे उद्गार इस प्रकार हैं:—

"ऐसैं अर्थ प्रकाशिका नाम देश भाषा बचनिका श्री राजवार्तिक नाम ग्रन्थका अल्प लेश लेय अपना उपयोगकी विशुद्धताके अर्थि तथा तथा संस्कृतके बोधरहित अल्पज्ञानिके तत्त्वार्थसूत्रनिके अर्थ समझनेके अर्थि अपनी बुद्धिके अनुसार लिखी है। परन्तु राजवार्तिकका अर्थ कहूँ कहूँ गोम्मटसार, त्रिलोकसारका अर्थ लेय लिख्या है। अपनी बुद्धिकी कल्पनातैं इस ग्रन्थमें एक अक्षर हूँ नहीं लिखा है। जाकै पापका भय होयगा, अर जिनेन्द्रकी आज्ञाका धारने वाला होयगा सो जिनेन्द्रके आगमकी आज्ञा बिना एक अक्षर स्मरणगोचर नहीं करेगा लिखना तो बणैं ही कैसें? अर जे सूत्र आज्ञा छाँडि अपने मनकी मुक्ति तैं ही अपने अभिमान पुष्ट करनेकूं योग्य अयोग्य कल्पना करि लिखैं हैं ते मिथ्यादृष्टि सूत्रद्रोही अनन्त संसार परिभ्रमण करेंगे"।

इस टीकाके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिसे एक बातका और भी पता चलता है और वह यह कि; यह टीका अकेले पण्डित सदासुखदासजीकी ही कृति नहीं है, किन्तु दो विद्वानोंकी एक सम्मिलित कृति है। इस बातको सूचित करने वाले प्रशस्तिके पद्य निम्न प्रकार हैं—

चौपाई

"पूरब मैं गंगा तट धाम,
अति सुंदर आरा तिस नाम।

तामैं जिन चैत्यालय लसैं,
अग्रवाल जैनी बहु बसैं ॥ १३ ॥
बहुज्ञाता तिन मैं जु रहाय,
नाम तासु परमेष्ठि सहाय।
जैनग्रन्थमें रुचि बहु करै,
मिथ्या धरम न चित में धरै ॥ १४ ॥

दोहा

सो तत्त्वारथ सूत्रकी,
रची वचनिका सार।
नाम जु अर्थ प्रकाशिका,
गिणती पाँच हजार ॥ १५ ॥
सो भेजी जयपुर विषैं,
नाम सदासुख जाय।
सो पूरण ग्यारह सहस,
करि भेजी तिन पास ॥ १६ ॥

सवैया

अग्रवाल कुल श्रावक कीरतचन्द,
जु आरे माँहि सुवास।
परमेष्ठी सहाय तिनके सुत,
पिता निकट करि शास्त्राभ्यास ॥ १७ ॥
किवो ग्रंथ निज पर हित कारण,
लखि बहु रुचि जग मोहनदास।
तत्त्वारथ अधिगम सु सदासुख,
रास चहुँ दिश अर्थप्रकाश ॥ १८ ॥

इन पद्योंसे स्पष्ट है कि आरा निवासी पंडित परमेष्ठीसहायजी अग्रवाल जैन थे। आपने अपने पिता कीरतचन्दजीके सहयोगसे ही जैन सिद्धान्त का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था और आप बड़े धर्मात्मा सज्जन थे तथा उस समय आरामें अच्छे विद्वान् समझे जाते थे। उन्होंने साधर्मी भाई जगमोहनदासकी तत्त्वार्थ विषयके जाननेकी विशेष रुचिको देखकर स्वपरहितके लिये यह 'अर्थप्रकाशिका' टीका सब से पहले पाँच हजार श्लोक प्रमाण लिखी थी और फिर उसे संशोधनादिके लिये जयपुरके प्रसिद्ध विद्वान् पं० सदासुखदासजीके पास भेजा था। पण्डित सदासुखजीने संशोधन सम्पादनादि के साथ टीकाको पल्लवित करते हुए उसे वर्तमान ११ हजार श्लोक परिमाणका रूप दिया है और इसीसे यह टीका प्रायः पण्डित सदासुखजीकी कृति समझी जाती है।

उक्त परिचय परसे इतना और भी साफ़ ध्वनित होता है कि पण्डित सदासुखजीकी कृतियों (भगवती आराधना टीका आदि) का उस समय आरा जैसे प्रसिद्ध नगरोंमें यथेष्ट प्रचार हो चुका था और उनकी विद्वत्ता एवं टीका शक्तिका सिक्का तत्कालीन विद्वानोंके हृदय पर जम गया था। यही कारण है कि उक्त पण्डित परमेष्ठीसहायजीको तत्त्वार्थसूत्रकी टीका लिखने और उसे जयपुर पण्डितजीके पास संशोधनादिके लिये भेजनेकी प्रेरणा मिली। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें यथेष्ट परिवर्धन करनेकी अनुमति भी देनी पड़ी है। तभी पंडित सदासुखजी उस टीकाको दुगनेसे भी अधिक विस्तृत करनेमें समर्थ हो सके हैं।

इस टीकाके सम्पादनादि करनेमें पंडित सदासुखजीका पूरे दो वर्षका समय लगा था । और वह विक्रम संवत १९१४ में वैसाख शुक्ला दशमी रविवारके दिन पूर्ण हुई थी। जैसा कि प्रशस्तिके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

संवत् उगणी सै अधिक,
चौदह आदितवार ॥
सुदि दशमी वैसाखकी,
पूरण किया विचार ॥३॥

यह टीका अपने विषयकी स्पष्ट विवेचक होनेके साथ साथ पढ़नेमें बड़ी ही रुचिकर प्रतीत होती है। इसीसे इसके पठन-पाठनका जैनसमाजमें काफी प्रचार है।

इस टीकाके प्रधान लेखक पंडित सदासुखजी तेरापन्थ आम्नायके प्रबल समर्थक थे। आप विक्रमकी १९ वीं २० वीं शताब्दीके बड़े अच्छे विद्वान् हो गये हैं। आपका जन्म खण्डेलवाल जातिमें हुआ था और आपका गोत्र 'कासलीवाल' था। आप डेडराजके वंशज थे और आपके पिताका नाम दुलीचन्द था, जैसा कि अर्थ प्रकाशिका-प्रशस्तिकी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है:—

डेडराजके वंश मांहि,
इक किंचित ज्ञाता।
दुलीचन्दका पुत्र,
कासलीवाल विख्याता ॥ ४ ॥
नाम सदासुख कहैं,
आत्मसुखका बहु इच्छुक।
सो जिनवानि प्रसाद,
विषयतैं भए निरिच्छुक ॥ ५ ॥

आपका जन्म विक्रम संवत् १८५२ में अथवा उसके लगभग हुआ जान पड़ता है; क्योंकि आपकी रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीका विक्रम सं० १९२० की चैत कृष्णा चतुर्दशीको पूर्ण हुई है और उस समय उसकी प्रशस्तिमें आपने अपनी आयु ६८ वर्षकी प्रकट की है। आपकी जन्म भूमि जयपुर है। उस समय जयपुरमें राजा रामसिंहका राज्य था। कहा जाता है कि पं० सदासुखदासजी राज्यके खजांची थे और आपको जीवन-निर्वाहके लिये राज्यकी ओरसे ८) रु० माहवार मिला करते थे। इन्हींसे आपका और आपके कुटुम्बका पालन-पोषण होता था। इस विषयमें एक किम्बदन्ती इस तरहसे भी कही जाती है कि आपको जयपुर राज्यसे ८) रु० माहवार जिस समयसे मिलना शुरू हुआ था वह उन्हें बराबर उसी तरहसे मिलता रहा उसमें जरा भी वृद्धि नहीं हुई। एकबार महाराजाने स्वयं अपने कर्मचारियों आदिके वेतनादिका निरीक्षण किया, तब राजाको मालूम हुआ कि राज्यके खजांचीके सिवाय, चालीस वर्षके अर्सेमें सभी कर्मचारियोंके वेतनमें वृद्धि हुई है—वह दुगुना और चौगुना तक हो गया है। परन्तु खजांचीके वही आठ रुपया हैं। यह सब जानकर राजाको बहुत कुछ आश्चर्य और दुःख हुआ। राजाने पंडितजीको बुलाकर कहा कि—मुझसे भूल हुई है जो आज तक आपके वेतनमें किसी तरहकी वृद्धि नहीं हो सकी। इतने थोड़ेसे खर्चमें आपके इतने बड़े कुटुम्बका पालन-पोषण

कैसे होता होगा ? उत्तरमें पंडितजीने कहा—कि आपकी कृपासे सब हो जाता है। तब राजाने बड़े आग्रहसे कहा कि अब आपको जो जरूरत हो सो मांगलें, मैं उसे पूरा कर दूंगा और आजसे आपको वेतन २०) रु० माहवार मिला करेगा। इतना सब होने पर भी परम संतोषी पण्डित सदासुखदासजीने कहा कि यदि आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें तो मैं निवेदन करूँ, इस समय मैं रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीका लिख रहा हूँ, स्वयं अपनी इस अस्थायी पर्यायका कोई भरोसा नहीं है और मुझे किसी चीजकी कोई आकांक्षा नहीं है। अतः आजसे मैं आठ घंटेके बजाय ६ घंटे ही खजांचीका कार्य किया करूंगा और वेतन भी आप मुझे ८) रु० की बजाय ६) रु० मासिक ही दे दिया करें। तब राजाने कहा कि कलसे आप खजांचीका काय ६ घण्टे ही किया करें, परन्तु वेतन यदि आप अधिक नही लेना चाहते तो वह ८) रु०से किसी तरह भी कम नहीं किया जा सकता।

यदि यह घटना सत्य हो; तो इससे पण्डित जीकी संतोषवृत्तिका और धार्मिक साहित्यके निर्माणका कितना अधिक अनुराग प्रतीत होता है, इसे बतलानेकी जरूरत नहीं रहती। यदि भट्टारकीय प्रथाके खिलाफ तेरहपन्थ दि० जैनसमाज में स्थापित न होता और इस तरहसे खासकर जयपुर राज्यके विद्वान् दिगम्बर साहित्यको अनुवादादिसे अलंकृत कर उसका प्रचार न करते तो दि० जैन समाजमें धार्मिक ग्रंथोंके पठन-पाठनादि का और उनके ग्रंथोंके टीका-टिप्पणादिके निर्माणरूप जो कार्य बराबर चालू रहा है वह शायद ही देखनेको मिलता।

पंडितजीकी जीवन-घटनाओंका और कौटुम्बिक जीवनका यद्यपि कोई परिचय उपलब्ध नहीं है तो भी जो कुछ टीका ग्रन्थोंमें दी गई संक्षिप्त प्रशस्ति आदिसे जाना जाता है उससे पं० जीकी चित्तवृत्ति, उनकी सदाचारता, आत्म-निर्भयता, अध्यात्मरसिकता, विद्वत्ता और सच्ची धार्मिकता पद पद पर प्रकट होती है। आपका जिनवाणीके प्रति बड़ा भारी स्नेह था, और उसकी देश देशान्तरोंमें प्रचार करनेकी आवश्यकताको आप बहुत ही ज्यादा अनुभव किया करते थे। इसलिये आपका अधिक समय शास्त्र स्वाध्याय, सामायिक, तत्त्वचिंतवन पठन-पाठन और ग्रंथोंके अनुवादादि कार्योंमें ही व्यतीत होता था। रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीकाके अवलोकनसे आपके सैद्धान्तिक अनुभवका कितना ही पता चल जाता है और साथ ही आपकी विचार पद्धतिका भी बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। यद्यपि इस टीकामें कहीं कहीं पर चरणानुयोगके विषयको उसके पात्रकी सीमासे कुछ घटा बढ़ाकर लिखा गया है, जो प्रायः पण्डितजीकी उदासीन चित्तवृत्तिका परिणाम जान पड़ता है। फिर भी स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारका यह महाभाष्य पंडितजीके विशाल अध्ययन, विद्वत्ता और कार्य-तत्परताकी ओर संकेत करता है। यदि आज दिगम्बर समाजके विद्वानोंमें जैनसाहित्यके उद्धार एवं प्रचारकी उन जैसी लगन हो जाय तो निस्सन्देह कुछ वर्षोंमें ही बहुत कुछ ठोस साहित्यका

निर्माण होकर संसारमें उसका प्रचार किया जा सकता है।

पण्डित सदासुखदासजीके एक प्रधान शिष्य थे। उनका नाम था पन्नालालजी संघी। आपका उक्त पंडितजीसे विक्रम सं० १९०१ से १९०७ के मध्यवर्ती किसी समयमें साक्षात्कार हुआ था। पण्डितजीके सदुपदेश एवं प्रभावसे संघीजीकी चित्तवृत्ति पलट गई और जैनधर्मके ग्रन्थोंके अभ्यासकी ओर उनका चित्त विशेषतया उत्कंठित हो उठा। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की, कि मैं आजसे रात्रिको १० बजे प्रति दिन पंडितजीके मकान पर पहुँच कर जैनधर्मके ग्रंथोंका अभ्यास एवं परिशीलन किया करूँगा। जब संघीजी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार रात्रिको १० बजे पंडितजीके मकान पर पहुँचे तब पण्डितजीने कहा कि आप बड़े घर के हैं—सुखिया हैं—अतः आपसे ऐसे कठिन प्रणका निर्वाह कैसे हो सकेगा? उत्तरमें संघीजीने उस समय अपने मुँहसे तो कुछ भी नहीं कहा किन्तु जब तक पंडित सदासुखजी जीवित रहे तब तक आप बराबर नियम पूर्वक उसी समय उनके पास पहुँचते रहे। पंडितजीके सहयोगसे आपने कितने ही सिद्धान्त ग्रंथोंका अवलोकन किया और जैनधर्मके तत्त्वोंका मनन एवं परिशीलन किया।

पंडित सदासुखदासजीने अन्त समयमें अपने शिष्य संघीजीसे कहा कि—"अबमें इस अस्थायी पर्यायको छोड़कर विदा होता हूँ। मैंने तथा मेरे पूर्व वर्ती पंडित टोडरमलजी, मन्नालालजी और जयचन्द्रजी आदि विद्वानोंने असीम परिश्रम करके अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थोंकी सुलभ भाषा वचनिकाएँ की हैं, और अनेक नवीन ग्रंथ भी बनाएँ हैं, परन्तु अभी तक देश-देशान्तरोंमें उनका जैसा प्रचार होना चाहिये था वैसा नहीं हुआ है। और तुम इस कार्यके सर्वथा योग्य हो, तथा जैनधर्मके मर्मको भी अच्छी तरह समझ गये हो, अतएव गुरुदक्षिणामें मैं तुमसे केवल यही चाहता हूँ कि जैसे बने तैसे इन ग्रंथोंके प्रचारका प्रयत्न करो। वर्तमान समयमें इसके समान पुण्यका और धर्मकी प्रभावनाका और कोई दूसरा कार्य नहीं है।"

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि पण्डितजीके सुयोग्य शिष्य संघीजीने गुरु दक्षिणा देनेमें ज़रा भी आना कानी नहीं की। और आपने अपने जीवनमें राजवार्तिक, उत्तर पुराण आदि आठ ग्रन्थों पर भाषा वचनिकाएँ लिखी हैं और २७००० हज़ार श्लोक प्रमाण 'विद्वज्जन बोधक' नामके ग्रंथका निर्माण भी किया है। इसके सिवाय सरस्वती पूजा आदि कुछ पुस्तकें पद्यमें लिखी हैं। अन्य साधर्मी भाइयोंकी सहायतासे आपने जयपुर में एक "सरस्वती भवन" की स्थापना की थी जिससे बाहरसे ग्रंथोंकी माँग आने पर ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि कराकर भेज देते थे। उस कार्यको आप पंडितजीकी अमानत समझते थे, और उसका जीवन पर्यंत तक निर्वाह करते रहे †।

यद्यपि पण्डित सदासुखदासजीके मरण-समय

† पं० पन्नालालजी संघीका परिचय, 'विद्वज्जन बोधक' के मुद्रित प्रथमभागकी प्रस्तावनासे लिया गया है। देखो—पृष्ठ ६, ७।

का ठीक ठीक बोध नहीं हो सका है। परन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी प्रशस्तिसे इतनी बात जरूर निश्चित है कि रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी वचनिका पंडितजीकी अन्तिम कृति है। वह विक्रम संवत १९२० में चैत्र कृष्णा चतुर्दशीके दिन पूर्ण हुई है। उस समय पंडितजीकी उम्र ६८ वर्षकी हो चुकी थी *। इसके बाद आप अधिकसे अधिक दो-चार वर्ष ही जीवित रहे होंगे। रत्नकरण्ड श्रावकाचार की आपकी यह टीका जैनशास्त्रोंका विशेष अनुभव प्राप्त कर लेनेके बाद लिखी गई है, इसी कारण इसमें दिए हुए वर्णनसे पंडितजी, उनकी चित्तवृत्तिका और सांसारिक देह भोगोंसे वास्तविक उदासीनताका बहुत कुछ आभास मिल जाता है। उसमें समाधि आदिका जो महत्व पूर्ण वर्णन दिया है उससे पण्डितजीकी समाधि-मरण-विषयक जिज्ञासा एवं भावनाका भी कितना ही दिग्दर्शन हो जाता है। और भगवती आराधना की टीकाके अन्तके निम्न दो पद्योंसे, जिनमें समाधि मरणकी आकाँक्षा व्यक्त की गई है, मेरे उपर्युक्त निष्कर्षकी पुष्टि होती है:—

मेरा हित होनेको और,
दीखे नाँहि जगतमें ठौर।
यातैं भगवति शरण जु गही,
मरण आराधन पाऊँ सही॥ १३॥

हे भगवति तेरे परसाद,
मरण समै मति होहु विषाद।
पंच परम गुरुपद करि ढोक,
संयम सहित लहूँ परलोक॥ १४॥

इन पद्योंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पण्डित सदासुखदासजी अपने समाधि मरणके लिये कितने उत्सुक थे। जरूर ही उनका मरण समाधि पूर्वक हुआ है और उसके प्रसादसे वे निसन्देह सद्गतिको प्राप्त हुए होंगे।

पंडित सदासुखजीने जो साहित्य-सेवा की है, और अपने अमूल्य समयको जिनवाणीके अध्ययन अध्यापन और टीका कार्यमें बितानेका जो प्रयत्न किया है वह सब विद्वानोंके द्वारा अनुकरणीय है। संस्कृत-प्राकृतके जैनग्रन्थोंका हिन्दी भाषामें अनुवादादि कर जो जैनसमाजका उपकार वे कर गये हैं वह बड़ा ही प्रशंसनीय और आदरणीय है। इससे जैनसंसारमें आपका नाम अमर हो गया है। इस समय तक मुझे आपकी ७ कृतियोंका पता चला है। संभव है और भी किसी ग्रंथकी वचनिका लिखी गई हो या कोई स्वतन्त्र ग्रंथ बनाया गया हो। प्रस्तुत 'अर्थप्रकाशिका' टीका और उक्त रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीकाके अतिरिक्त जिन पाँच कृतियोंका पता और चला है वे इस प्रकार हैं:—

१—भगवती आराधना टीका, संवत १९०८ में भादों सुदी दोयजको पूर्ण हुई।

---

* अठसठ वरस जु आयुके, बीते तुझ आधार।
शेष आयु तव शरणतैं, जाहु यही मम सार॥१७
—प्रशस्ति, रत्नकरण्ड श्रावकाचारटीका।

२—पण्डित बनारसीदासकृत नाटक समयसार टीका।

३—नित्यनियम पूजा संस्कृतकी टीका।

४—अकलंक स्तोत्रकी टीका।

५—तत्त्वार्थसूत्रकी लघु टीका।

पिछली चार टीकाओंके सामने न होनेके कारण उनके विषयमें रचना संवत् और प्रशस्ति आदिका कोई ठीक परिचय नहीं मिल सका। आशा है समाज पंडितजीके उपकारको स्मरण करता हुआ उनके सेवा भावका आदर्श सामने रक्खेगा और जिनवाणीके प्रचारका जो सन्देश उन्होंने अपने शिष्य पंडित पन्नालालजी संघीको दिया था उसे कार्यमें परिणत करनेका अपना भी कर्त्तव्य समझेगा, और तदनुसार जैन ग्रन्थों का अनेक भाषाओंमें अनुवादादि कर प्रचार करनेका जरूर कोई संगठित प्रयत्न करेगा। ऐसा करके ही वह अपने उपकारीके ऋणसे उऋण हो सकेगा †।

वीर सेवामन्दिर सरसावा
ता० ५—५—१९४०

† यह लेख श्रीमूलचन्द किसनदासजी कापड़ियाके 'दिगम्बर जैन पुस्तकालय' सूरतसे शीघ्र प्रकाशित होने वाली 'अर्थप्रकाशिका' टीकाके लिये प्रस्तावनाके रूपमें लिखा गया है।

—लेखक

जैनियोंकी दृष्टिमें बिहार

[लेखक—पंडित के० भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण, स० "जैनसिद्धान्तभास्कर"]

इस महत्वपूर्ण प्रस्तुत विषयका मैं दो दृष्टियोंसे विचार करूँगा, जिनमें पहली दृष्टि पौराणिक और दूसरी ऐतिहासिक होगी। जैनियोंकी मान्यता है कि वर्तमानकालमें भारतक्षेत्रान्तर्गत आर्यखण्डमें एक दूसरेसे दीर्घकालका अन्तर देकर स्व-पर-कल्याणार्थ चौबीस महापुरुष अवतरित हुए, जिन्हें जैनी तीर्थंकरके नामसे सम्बोधित करते और पूजते हैं। इन तीर्थङ्करोंमें १९ वें तीर्थङ्कर श्रीमल्लिनाथ, २० वें तीर्थङ्कर श्रीमुनिसुव्रत, २१ वें तीर्थङ्कर श्रीनमिनाथ एवं २४ वें तीर्थङ्कर श्रीमहावीरकी जन्मभूमि कहलानेका सौभाग्य इसी बिहार प्रान्तको है। मल्लिनाथ और नमिनाथकी जन्मनगरी मिथिला, मुनिसुव्रतकी राजगृह तथा महावीरकी वैशाली है। चौबीस तीर्थङ्करोंमेंसे २२ वें श्रीनमिनाथ और १ ले श्री ऋषभदेवको छोड़कर शेष २२ तीर्थङ्कर इसी बिहारसे मुक्त हुए हैं जिनमेंसे २० तीर्थङ्करोंने तो वर्तमान हजारीबाग जिलान्तर्गत सम्मेदशिखर (Parshwanath hill) से मुक्तिलाभ किया है और शेष दो में से महावीरने पावासे तथा वासुपूज्यने चम्पासे। सम्मेदशिखर, पावापुर और चम्पापुर (भागलपुर) के अतिरिक्त राजगृह, गुणावा, गुलजारबाग (पटना) जैसे स्थानोंको भी जैनी अपने अन्यान्य महापुरुषोंका मुक्ति-स्थान मानते आरहे हैं। इतना ही नहीं, सम्मेदशिखर, पावापुर और राजगृहादि स्थानों पर जैनियोंने अतुल द्रव्य व्यय कर बड़े-बड़े आलीशान मन्दिर निर्माण किये तथा धर्मशालाएँ आदि बनवाई हैं और प्रतिवर्ष हजारोंकी संख्यामें समूचे भारतवर्षसे जैनी यात्रार्थ वहाँ जाते हैं। जिस बिहार प्रांतमें अपने परमपूज्य एक-दो नहीं बीस तीर्थङ्करोंने दिव्य तपस्याके द्वारा कर्म-क्षय कर मोक्ष लाभ किया है, वह पावनप्रदेश जनी मात्रके लिए कैसा आदरणीय एवं श्लाघनीय है—यह यहाँ कहनेकी आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि एक श्रद्धालु जैनीके लिए इस बिहारका प्रत्येक कण, जो तीर्थङ्करों एवं अन्यान्य महापुरुषोंके चरणरजसे स्पृष्ट हुआ है, शिरोधार्य तथा अभिनन्दनीय है। इसकी विस्तृत कीर्त्ति-गाथा जैन-ग्रन्थोंमें बड़ी श्रद्धासे गायी है।

प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय राजकुमार थे। हिन्दूपुराणोंके अनुसार ये स्वयम्भू मनुकी पाँचवीं पीढ़ीमें हुए बतलाये गये हैं। इन्हें हिन्दू [1] एवं बौद्ध [2] शास्त्राकार भी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और युगके आरम्भ में जैन-धर्मका संस्थापक मानते हैं। हिन्दू अवतारोंमें यह

१ देखो, भागवत ५।४, ५, ६। २ देखो, 'न्यायबिन्दु' अ० ३।

आठवें माने गये हैं और सम्भवतः वेदोंमें भी इन्हींका उल्लेख मिलता है । इन्हीं ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र सम्राट भरतके नामसे यह देश भारत-वर्ष कहलाता है। बीसवें तीर्थङ्कर श्री मुनिसुव्रत-नाथके कालमें ही मर्यादा-पुरुष रामचन्द्र एवं लक्ष्मण हुए थे । श्रीकृष्ण २२ वें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ के समकालीन ही नहीं, बल्कि इनके ताऊजाद भाई थे । अब कई विद्वान भगवान् नेमिनाथको भी ऐतिहासिक व्यक्ति मानने लगे हैं । गुजरातमें प्राप्त ई० पूर्व लगभग ११ वीं शताब्दीके एक ताम्रपत्रके आधार पर हिन्दू विश्वविद्यालय बनारसके सुयोग्य प्रोफेसर डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार तो इन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति स्पष्ट घोषित करते हैं। बल्कि प्रोफेसर प्राणनाथ-जी का कहना है कि 'मोहोनजोदारो' से उपलब्ध पाँचहज़ार पूर्वकी वस्तुओंमें कई शिलाएँ भी हैं जिनमें से कुछ में **'नमो जिनेश्वराय'** साफ़ अंकित मिलता है।[३]

यद्यपि भगवान् पार्श्वनाथके पूर्वके तीर्थङ्करोंके अस्तित्वको प्रमाणित करनेके लिये हमारे पास सबल ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं, फिर भी जैन-ग्रन्थोंके कथन एवं आजसे लगभग ढाई-तीन हज़ार वर्ष पूर्व निर्मित अवशेष [४] तथा शिलालेखादि [५] से शेष तीर्थङ्करोंके अस्तित्वका पता अवश्य चलता है। बल्कि कई विद्वान् रामायण, महाभारतादि ग्रन्थोंमें ही नहीं किन्तु यजुर्वेदादि सुप्राचीन वैदिक साहित्यमें जैन-धर्म एवं श्री नेमिनाथ आदि कतिपय तीर्थङ्करोंका उल्लेख मानते हैं [६] । आधुनिक खोजमें जैनियों-के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरके पूर्व-गामी २३वें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथको सभी इतिहासवेत्ता सम्मिलितरूपसे ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार कर चुके हैं, जो भगवान् महावीरसे प्रायः ढाईसौ वर्ष पहले हुए थे । अतएव आधुनिक दृष्टिसे एक विशेष विश्वसनीय जैन इतिहास ई० पूर्व नवमी शताब्दीसे प्रारम्भ हुआ था यह निर्विवादरूपसे माना जा सकता है। अस्तु, यह विषयान्तर है। अब आइये प्रस्तुत विषय पर।

'जैनियोंकी दृष्टिमें बिहार' इस विषयपर ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करता हुआ मैं सर्व-प्रथम अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीरको ही लूँगा। भगवान् महावीरका जन्म आजसे २५३८ वर्ष पूर्व चैत्र शु० त्रयोदशीके शुभ दिन वर्तमान मुजफ्फरपुर जिलेके बसाढ़ नामक स्थानमें हुआ था, जिसका प्राचीन वैभवशाली नाम वैशाली था। भगवान् महावीरके श्रद्धेय पिता नृप सिद्धार्थ थे। ये काश्यपगोत्रीय इक्ष्वाकु अथवा नाथ या ज्ञातवंशीय क्षत्रिय थे[७] । इनका विवाह वैशालीके लिच्छिवी क्षत्रियोंके प्रमुखनेता राजा चेटककी पुत्री प्रियकारिणी अथवा त्रिशलाके साथ हुआ था। राजा चेटक-जैसे संभ्रान्त राजवंशसे सिद्धार्थ-का वैवाहिक सम्बन्ध होना ही इनकी प्रतिष्ठा और गौरवका ज्वलन्त निदर्शन है। ।जैनग्रन्थोंमें

३ देखो, 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली' भाग ७, नं० २।

४ देखो, कंकालीटोले वाला मथुरा-जैनस्तूप।

५ देखो, खण्डगिरि-उदयगिरि-सम्बन्धी हाथी-गुफाका शिलालेख।

६ देखो, 'संक्षिप्त जैन इतिहास' प्रथम भागकी प्रस्तावना और 'वेद पुराणादि ग्रन्थोंमें जैनधर्मका अस्तित्व'।

७ देखो, 'उत्तरपुराण' पृष्ठ ६०५।

सिद्धार्थ नाथवंशके मुकुटमणि कहे गये हैं। आधुनिक साहित्यान्वेषणसे प्रकट हुआ है कि ज्ञात्रिक-क्षत्रियोंका निवास-स्थान प्रधानतया वैशाली (बसाढ़), कुण्डग्राम एवं वणियग्रामोंमें था। साथ ही, यह भी ज्ञात हुआ है कि नाथ-वंशीय क्षत्रिय कुण्ड ग्रामसे ऐशान्य दिशामें अव-स्थित कोल्लागमें अधिक संख्यामें रहते थे। वैशालीके बाहर निकट ही कुण्डग्राम वर्तमान था, जो संभवत: आजकलका वसुकुण्ड गाँव है। जैनग्रन्थोंके कथनानुसार भगवान् महावीरका जन्म यहीं पर हुआ था। कोई-कोई विद्वान कोल्लागको ही महावीरका जन्मस्थान बताते हैं। परन्तु यह बात दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी मान्यताके प्रतिकूल है। नाशवंशीय क्षत्रिय वज्जिप्रदेशीय प्रजातन्त्रात्मक राजसंघमें सम्मिलित थे। कौटिलीय अर्थशास्त्रसे स्पष्ट है कि, प्रजातन्त्रीय राजसंघमें क्षत्रियकुलोंके मुखि-याओंकी कौंसिल मुख्यकार्यकर्त्री थी और इस कौंसिलके सदस्योंका नामोल्लेख राजाके रूपमें होता था[८]। यही कारण है कि भगवान् महा-वीरके पिता सिद्धार्थकुंडपुरके राजा कहलाते थे।

नाथवंशीय क्षत्रिय मुख्यत: जैनियोंके २३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथके अनुयायी थे। बाद-को जब भगवान् महावीरके दिव्य कर-कमलोंमें जैनधर्मका शासनसूत्र आया तब वे नियमानुसार उनके उपासक बनगये[९]। बौद्धग्रन्थोंमें भगवान् महावीर 'निग्गंथताथपुत्त' के नामसे ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इसका कारण यह है कि उस जमानेमें जैनसंघ इसी नामसे अधिक परिचित था। यह निर्विवाद बात है कि भगवान् महावीरके समय वैशालीमें जैनियोंकी संख्या अत्यधिक थी। चीनयात्री हुएनस्वांग (सन् ६३५) के भारतयात्रा कालतक जैनियोंकी संख्यामें वहाँ कमी नहीं हुई थी; क्योंकि उन्होंने अपने यात्राविवरणमें स्पष्ट लिखा है कि वैशाली-राज्यका घेरा क़रीब एक हज़ार मीलका था, वहाँकी जलवायु अनुकूल थी, लोगोंका आचरण पवित्र और श्रेष्ठ था, लोग धर्मप्रेमी थे, विद्याकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, और जैनी बहुत सँख्यामें मौजूद थे[१०]। तीस वर्षकी अवस्थामें भगवान् महावीरने संसारसे विरक्त हो अपने आत्मोत्कर्षको साधने एवं संसारके जीवोंको सन्मार्गमें लगानेके लिये सम्पूर्ण राज्यवैभवको ठुकराकर जंगलका रास्ता लिया। दीन दुखियोंकी पुकार उनके उदार हृदयमें घर कर गयी और उनकी सच्ची सेवा बजानेके लिये वे दृढप्रतिज्ञ होगये। विशेष सिद्धिके लिये विशेष तपस्याकी आवश्यकता होती है, यह बात निर्विवाद सिद्ध है। इसी लिये महावीरको बारह वर्षों तक घोर तपश्चरण करना पड़ा। क्योंकि तपश्चरण ही आन्तरिक मलको छाँटकर आत्माको शुद्ध, सुयोग्य एवं कार्यक्षम बना सकता है। इस दुर्द्धर तपश्चरण-की कुछ घटनाओंको ज्ञातकर रोंगटे खड़े होजाते हैं। परन्तु साथ ही साथ आपके असाधारण धैर्य, अटल निश्चय, दृढ़ आत्मविश्वास, अगाध साहस एवं लोकोत्तर क्षमाशीलताको देखकर भक्तिसे मस्तक झुक जाता है और मुख स्वयमेव

८ देखो, 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' का मैसूर सँस्करण पृष्ठ ४५५

९ देखो, मिसेज स्टिवेन्सन् का 'हार्ट आफ़ जैनिज्म' (लंडन)

१० देखो, 'बँगाल बिहार उड़ीसाके प्राचीन जैनस्मारक'। पृष्ठ २३

स्तुति करने लग जाता है। बारह वर्षों के उग्र तपश्चरणोंके बाद वैशाख शु० दशमी को जृम्भक गाँवके निकट, ऋजुकूला नदीके किनारे सालवृक्षके नीचे केवल ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञज्योतिको वे प्राप्त हुए। इस प्रकार मुक्तिमार्गका नेतृत्व ग्रहण करनेके जब आप सर्वप्रकारसे उपयुक्त हुए तब जन्म-जन्मान्तरमें संचित अपने विशिष्ट शुभ संकल्पानुसार महावीरने लोकोद्धारके लिये अपना विहार (भ्रमण) प्रारम्भ किया। संसारी-जीवोंको सन्मार्गका उपदेश देनेके लिये लगभग ३० वर्षों तक प्रायः समग्र भारतमें अविश्रान्त रूपसे आपका विहार होता रहा। खासकर दक्षिण एवं उत्तर विहारको यह लाभ प्राप्त करनेका अधिक सौभाग्य प्राप्त है। विद्वानोंका कहना है कि इस प्रदेशका 'विहार' यह शुभ नाम महावीर एवं गौतम बुद्धके विहारकी ही चिरस्मृति है। जहाँ पर महावीरका शुभागमन होता था, वहाँ पशु-पक्षी तक भी आकृष्ट होकर आपके निकट पहुँच जाते थे। आपके पास किसी प्रकारके भेद-भावकी गुञ्जायश नहीं थी। वास्तवमें जिस धर्ममें इस प्रकारकी उदारता नहीं है वह विश्वधर्म—सार्वभौमिक—होनेका दावा नहीं कर सकता। भगवान् महावीरकी महती सभामें हिंसक जन्तु भी सौम्य बन जाते थे और उनकी स्वाभाविक शत्रुता भी मिट जाती थी। महावीर अहिंसाके एक अप्रतिम अवतार ही थे, इस बातको स्वर्गीय बाल गङ्गाधर तिलक, महात्मा गांधी और कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे जैनेतर विद्वानोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। भगवान् महावीरने अपने विहारमें असंख्य प्राणियोंके अज्ञानान्धकारको दूर किया, उन्हें यथार्थ वस्तुस्थितिका बोध कराया, तत्वको समझाया, भूलें दूर कीं, कमजोरियाँ हटाईं, आत्मविश्वास बढ़ाया, कदाग्रह दूर किया, पाखण्डको घटाया, मिथ्यात्व छुड़ाया, पतितोंको उठाया, अत्याचारोंको रोका, हिंसाका घोर विरोध किया, साम्यवादको फैलाया और लोगोंको स्वावलम्बी बनानेका उपदेश दिया [११]। ज्ञात होता है कि आपके विहारका प्रथम स्थान राजगृह के निकट विपुलाचल और वैभार पर्वत आदि पंच पहाड़ियोंका पुण्यप्रदेश था। उस समय राजगृहमें शिशुनागवंशका प्रतापी राजा श्रेणिक या बिम्बसार राज्य करता था। श्रेणिक ने भगवान्की परिषदों में प्रमुख भाग लिया है और उसके प्रश्नों पर बहुत से रहस्योंका उद्घाटन हुआ है। श्रेणिककी रानी चेलना भी वैशालीके राजा चेटककी पुत्री थी। इसलिए वह रिश्तेमें महावीर स्वामीकी मौसी होती थी। जैन ग्रन्थोंमें राजा श्रेणिक भगवान महावीरकी सभाओंके प्रमुख श्रोताके रूप में स्मरण किये गये हैं। हाँ, एक बात और है और वह यह है कि बौद्ध ग्रन्थोंमें बिम्बसार गौतम बुद्धके एक श्रद्धालु भक्तके रूपमें वर्णित हुए हैं। प्रारम्भावस्थामें बिम्बसारका बुद्धानुयायी होना जैनग्रंथ भी स्वीकार करते हैं। अतः बहुत कुछ सम्भव है कि बिम्बसार पहले गौतमबुद्धका भक्त रहा हो और पीछे भगवान् महावीरकी वजह से जैन धर्ममें दीक्षित हो गया हो।

---

११ देखो, 'अनेकान्त' वर्ष १ कि० १ में प्रकाशित और फिर स्वतन्त्ररूपसे मुद्रित मुख्तार श्रीजुगलकिशोरका 'भगवान् महावीर और उनका समय' शीर्षक निबन्ध।

एक दृष्टि से बिहारको यदि जैन-धर्मका उद्गम स्थान माना जाय तो भी कोई ऐसा घोर विरोध नहीं दिखता। क्यों कि इस समय जैन धर्मका जो कुछ मौलिक सिद्धान्त उपलब्ध है, वह अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीरके उपदेशका ही सार समझा जाता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि आपका सिद्धान्त अपने पूर्ववर्ती शेष तेईस तीर्थङ्करों के सिद्धान्तकी पुनरावृत्ति मात्र है। जैनियोंकी यह दृढ श्रद्धा है कि अपने वन्दनीय चौबीस तीर्थङ्करों के मौलिक उपदेश में थोड़ा भी अन्तर कभी नहीं रहा है। ऐसी दशामें विज्ञ पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि जैनियोंकी दृष्टिमें विहार कितना महत्वपूर्ण अग्रस्थान रखता है। अब मैं यहाँ पर संक्षेपमें इस बातका दिग्दर्शन करा देना चाहता हूँ कि भगवान् महावीरके उपरान्त इस विहारमें शासन करनेवाले भिन्न भिन्न राजवंशोंका जैन-धर्मसे कहाँतक सम्बन्ध रहा है।

शिशुनागवंश—ई० पूर्व छठी शताब्दी में मगधराज्य भारतमें सर्वप्रधान था। इस प्रमुख राज्यके परिचयसे ही भारतका एक प्रामाणिक इतिहास प्रारम्भ होता है। उस समय यहाँके शासनकी बागडोर शिशुनागवंशीय वीर क्षत्रियोंके हाथमें थी। इस वंशके राजाओंने ई० पूर्व ६४५ से ई० पूर्व ४८० तक यहाँ पर राज्य किया है। उत्तरपुराण, आराधना-कथाकोश और श्रेणिक-चरित्र आदि जैन ग्रंथोंसे इस वंशके शासकों-में से (१) उपश्रेणिक, (२) श्रेणिक (बिम्बसार) (३)कुणिक (अजातशत्रु),(४)(दर्शक, (५) उदयन ये पाँचों जैन धर्मावलम्बी सिद्ध होते हैं[१२]। उल्लिखित ग्रन्थों में ये सभी शासक धर्मात्मा, वीर एवं राज-नीतिपटु कहे गये हैं। इन राजाओंमें खासकर श्रेणिक या बिम्बसारको जैनग्रंथोंमें प्रमुख स्थान प्राप्त है, यह बात मैं पहले ही लिख चुका हूँ। कुणिक या अजातशत्रु भी अपने समयका एक प्रख्यात प्रतापी राजा था। इसने बौद्ध धर्म से असन्तुष्ट होकर जैनधर्मको विशेषरूपसे अपनाया था। मालूम होता है कि इसीलिये बौद्धग्रंथोंमें यह दुष्कर्मोंका समर्थक एवं पोषक कहा गया है। भगवान् महावीर का निर्वाण इसीके राज्य-कालमें हुआ था। परन्तु एक बात जरूर है कि इस कुणिक या अजातशत्रुके राज्याधिकारी होते ही इसका व्यवहार अपने पिता श्रेणिकके प्रति बुरा होने लगा था। जैनग्रंथ कहते हैं कि पूर्व वैरके कारण अजातशत्रु अपने पिताको काठके पिंजरे में बन्दकर उसे मनमाना दुःख देने लगा था। किन्तु बौद्ध ग्रन्थोंसे पता चलता है कि इसने बुरा कार्य देवदत्त नामक एक बौद्ध-संघ-द्वेषी साधुके बहकानेसे किया था।

नन्द-वंश—सर विन्सेन्टस्मिथ, एम० ए० का कहना है कि नन्द राजा ब्राह्मण धर्मके द्वेषी और जैनधर्मके प्रेमी थे[१३]। कैम्ब्रिज हिस्ट्री भी इस बातका समर्थन करती है। नव नन्दोंके मन्त्री तो निस्सन्देह जैनधर्मानुयायी थे। महा-पद्मका मन्त्री कल्पक था, इसीका पुत्र परवर्ती नन्द का मन्त्री रहा। अन्तिम नन्द सकल्य

१२ देखो, विशेष परिचय के लिये 'संक्षिप्त जैन इतिहास' भाग २, खण्ड २। १३ देखो, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इण्डिया'

अथवा धननन्द था। इसका मन्त्री शकटार जैन धर्मानुयायी था, जो अन्त में मुनि होगया था।[१४]

इसके पुत्र स्थूल भद्र और श्रीयक थे। स्थूल भद्र जैन मुनि होगये थे और श्रीयक को मन्त्री-पद मिला था।[१५] इसीका अपर नाम सम्भवतः राक्षस था। यद्यपि उस समय भारतमें धननन्द सबसे बड़ा राजा समझा जाता था फिर भी इसमें इतनी योग्यता नहीं थी कि यह इतने विस्तृत राज्यको समुचित रीतिसे सँभाल लेता। फलतः उधर कलिंगको ऐरवंशके एक राजाने इससे जीत लिया; इधर चाणक्यकी सहायतासे चन्द्रगुप्त ने इसपर आक्रमण कर दिया। अन्त में ई० पूर्व ३२६ में नन्द-वंशकी इतिश्री होगई। सर स्मिथके कथनानुसार इसने ही जैनियोंके तीर्थ पंचपहाड़ीका निर्माण पटनामें कराया था।

मौर्य्य-वंश—जैन-साहित्य और शिलालेखोंसे मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त जैन-धर्मका परम-भक्त प्रमाणित होता है। इतिहास-लेखक दीर्घ-काल तक इस बात पर विश्वास करनेको तैयार नहीं हुए। परन्तु अब इधर कुछ वर्षोंसे ऐतिहासिक विद्वानोंने बहुमतसे चन्द्रगुप्तका जैन-धर्मानुयायी होना स्वीकार कर लिया है। इन विद्वानोंमें मि० विन्सेन्ट ए० स्मिथ, मि० ई० थामस मि० विल्सन, मि० बी० लुईस राइस, सं० इन्साइक्लो पीडिया आफरिलीजन, मि० जार्ज सी० एम० वुडवुड और श्रीयुत स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल प्रमुख हैं।[१६] ईसा की ५ वीं शताब्दी तकके प्राचीन जैन-ग्रन्थ एवं बाद के शिलालेखों का कथन है कि जब उत्तरभारत-में बारह वर्षोंका घोर दुर्भिक्ष पड़ा था तब चन्द्रगुप्त अन्तिम श्रुत केवली श्री भद्रबाहुके साथ दक्षिणकी ओर चला गया और वर्तमान मैसूर राज्यान्तर्गत श्रवणबेल्गोल में—जहाँ अब तक उसके नामकी यादगार है—मुनि के तौर पर रहकर अन्तमें वहीं पर वह उपवासपूर्वक स्वर्गासीन हुआ। श्रवणबेल्गोलकी स्थानीय अनुश्रुति भी भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तका सम्बन्ध जोड़ती है। इतना ही नहीं; अनुश्रुति द्वारा श्रवण-बेल्गोलके साथ इन दोनोंका भी सम्बन्ध जुड़ता है। श्रवणबेल्गोलके दो पर्वतों में से छोटेका नाम 'चन्द्रगिरि' है जो कि चन्द्रगुप्त नामक किसी महान् व्यक्तिका स्मृति चिन्ह है। इसी पर एक गुफा भी है जिसका नाम 'भद्रबाहु' गुफा है। इसी पर्वत पर एक सुन्दर प्राचीन मन्दिर भी है, जिसका नाम 'चन्द्रगुप्तवस्ति' है।

सम्राट चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी बिन्दुसार भी परिशिष्ट पर्व आदि जैन ग्रन्थों से जैन धर्मा-वलम्बी सिद्ध होता है। जैन ग्रन्थोंमें इसका दूसरा नाम सिंहसेन मिलता है। बिन्दुसार अपने श्रद्धेय पिता के समान बड़ा प्रतापी था। इसकी विजयों का पूर्ण वृत्तान्त उपलब्ध होने पर निस्सन्देह इसे भी चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे सम्राटोंकी श्रेणी में अवश्य स्थान मिल सकता है।

१४ देखो, 'आराधना कथा कोश' भाग ३, पृष्ठ ७८-८१।

१५ देखो, 'हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर आफ़ जैनिज़्म'।

१६ देखो, 'मौर्य साम्राज्य के जैन वीर' पृष्ठ। ११८-१४८।

जैनग्रंथ भी आचार्य चाणक्यको सम्राट् विन्दुसार का प्रधानमंत्री प्रकट करते हैं। बिन्दुसारके स्वर्गस्थ होने पर ई० पूर्व २७२ में इसका पुत्र अशोक राज्यारूढ़ हुआ। कई विद्वानोंका मत है कि सम्राट् अशोकने अपनी प्रशस्तियोंमें जो अहिंसा, सत्य, शील आदि गुणों पर जोर दिया उससे प्रतीत होता है कि वह स्वयं जैनधर्मावलम्बी रहा हो तो आश्चर्य नहीं। प्रो० कर्नका कहना है कि 'अहिंसाके विषयमें अशोकके जो नियम हैं वे बौद्धोंकी अपेक्षा जैनियोंके सिद्धान्तों से अधिक मिलते हैं। जैनग्रंथोंमें इसके जैन होनेका प्रमाण भी स्पष्ट उपलब्ध है[१७]। कवि कल्हणकी 'राजतरंगणी' में अशोक द्वारा काश्मीरमें जैनधर्मका प्रचार किये जानेका वर्णन है[१८]। यही बात अबुलफजलकी 'आइने अकबरीसे भी विदित होती है। कुछ विद्वानोंका मत है कि अशोक पहले जैनधर्मका उपासक था, पश्चात् बौद्ध होगया था[१९]। इसका एक प्रमाण यह दिया जाता है कि अशोक के उन लेखोंमें जिनमें उसके स्पष्टतः बौद्ध होनेके कोई संकेत नहीं पाये जाते बल्कि जैन सिद्धान्तोंके ही भावोंका आधिक्य है, राजाका उपनाम 'देवानांपिय पियदसी' पाया जाता है। 'देवानां पिय' विशेषतः जैनग्रन्थोंमें ही राजाकी पदवी पायी जाती है। श्वेताम्बरी 'उवाई' (औपपातिक) सूत्रग्रन्थोंमें यह पदवी जैन राजा श्रेणिक (बिम्बसार) और उसके पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) के नामोंके साथ लगाई गयी है। पर अशोकके २२ वें वर्षकी 'भावरा' की प्रशस्तिमें जिसमें उसके बौद्ध होनेके स्पष्ट प्रमाण हैं, उसकी पदवी केवल 'पियदसि' पायी जाती है, 'देवानांपिय' नहीं। इसी बीचमें वह जैनसे बौद्ध हुआ होगा। पर आजकल बहुत मत यही है कि अशोक बौद्ध था। (जैन इतिहासकी पूर्व पीठिका)

जैनियों की वंशावलियों और अन्य ग्रन्थोंमें उल्लेख है कि अशोकका पौत्र 'सम्प्रति' था, उसके गुरु 'सुहस्ति' आचार्य थे और वह जैनधर्मका बड़ा प्रतिपालक था। उसने 'पियदसि' के नामसे बहुतसी प्रशस्तियाँ शिलाओं पर अंकित करायी थीं। इस कथनके आधार पर प्रो० पिशेल और मि० मुकर्जी जैसे विद्वानोंका मत है कि जो शिलाप्रशस्तियाँ अब अशोकके नामसे प्रसिद्ध हैं, वे सम्भवतः 'सम्प्रति' ने लिखवायी होंगी। पर सरविन्सेन्ट स्मिथकी राय इसके विरुद्ध है। वे उन सब लेखोंको अशोकके ही प्रमाणित करते हैं। अशोकके समयमें सम्प्रति युवराज था और उसीने अपने अधिकारसे अशोकको राजकोषमें से बौद्धसंघको दान देनेका विरोध कर दिया था। सम्राट् कुनालके शासनमें भी शासन-सूत्र उसी के हाथ में था। दशरथ के समय में भी वही वास्तविक शासक रहा। यही कारण है कि बहुतसे ग्रन्थोंमें सम्प्रतिको ही अशोकका उत्तराधिकारी लिख दिया है। जैन-साहित्यमें सम्प्रतिका वही स्थान है जो बौद्ध-साहित्यमें अशोक-

१७ देखो, 'राजाविलकथे' (कन्नड़)

१८ देखो, 'यः शान्तवृजिनो राजा प्रयन्तो जिनशासनम्। शुष्कलेऽत्र वितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमंडले ॥ अ० १

१९ देखो, 'अर्ली फ़ेथ आफ़ अशोक', थामस-कृत।

का। उसने अपने प्रियधर्म को फैलाने के लिए बहुत प्रयत्न किया था।[२०] परिशिष्ट पर्वके कथनानुसार सम्प्रतिने अनार्य देशोंमें भी जैन-धर्म का प्रचार किया था। दानशाला-निर्माण आदि अनेक लोकोपकारक कार्य भी जैनधर्मके प्रचार में सम्प्रतिके पर्याप्त सहायक हुए हैं।

बृहस्पतिमित्रको जीतकर मगधको वशमें लाने वाला सम्राट् खारवेल भी कट्टर जैन-धर्मावलम्बी था। खारवेलने जैनधर्मकी बहुत बड़ी सेवा की थी। हाथीगुफ़ा वाले शिलालेखमें खारवेलको 'धर्मराज' एवं 'भिक्षुराज' कहा गया है। कलिंगके कुमारी पर्वतपर खारवेल और उसकी रानीने अनेक मन्दिर तथा विहार बनवाये थे। खासकर सम्राट्के द्वारा निर्मित वहाँकी गुफ़ाओंका मूल्य अत्यधिक है[२१]।

बादके विहारमें शासन करनेवाले गुप्तवंश आदि अन्यान्य राजाओंका जैनधर्मसे क्या संबंध रहा, इस बात को खुलासा करनेसे लेखका कलेवर विशेष बढ़ जायगा। इसलिये अपनी इस इच्छाका यहीं संवरण करना पड़ता है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि राजगृह, पाटलिपुत्र आदि पुरातन स्थानोंसे जैनधर्मका बहुत पुराना अभेद सम्बन्ध है। १९३७ के फरवरी महीनेमें पटना जंक्सनसे एक मीलकी दूरी पर लोहनीपुर मुहल्लेमें जो दो दिगम्बर जैन मूर्तियाँ खोदते वक्त मिली हैं उनके सम्बन्धमें पुरातत्त्वके अनन्य मर्मज्ञ स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवालका कहना है कि भारतवर्षमें आजतककी उपलब्ध मूर्तियोंमें ये सबसे प्राचीन हैं। जायसवाल महोदय इन मूर्तियोंको ईसासे ३०० वर्ष पूर्वकी मौर्यकालीन मानते हैं[२२]। कुलहा पहाड़ (हज़ारी बाग़) श्रावक पहाड़ (गया), पचार पहाड़ (गया) आदि स्थानों की खोज की बड़ी आवश्यकता है। संभव है इन स्थानोंकी खोजसे कुछ नयी बातें इतिहासको उपलब्ध हों। कुछ विद्वानोंका ख़याल है कि कुलहा पहाड़ भगवान् शीतलनाथ तीर्थंकर की तपोभूमि है[२३]।

२० देखो, सत्यकेतु विद्यालङ्कारका 'मौर्यसाम्राज्य'का इतिहास।

२१ देखो, विशेष विवरणके लिये 'सक्षिप्तजैनइतिहास' भाग २ खंड २।

२२ देखो, 'जैन ऐन्टीक्वेरी' भाग ३, नं० १ पृष्ठ १७-१८

२३ देखो, 'दिगम्मबरीय जैन डाइरेक्री।'

परिग्रह-परिमाण-व्रतके दासी-दास गुलाम थे

[लेखक—श्री पण्डित नाथूराम प्रेमी]

संसारमें स्थायी कुछ नहीं । सभी कुछ परिवर्तनशील है । हमारी सामाजिक व्यवस्थाओंमें भी बराबर परिवर्तन होते रहते हैं, यद्यपि उनका ज्ञान हमें जल्दी नहीं होता ।

जो लोग यह समझते हैं कि हमारी सामाजिक व्यवस्था अनादिकालसे एक-सी चली आ रही है, वे बहुत बड़ी भूल करते हैं । वे ज़रा गहराईसे विचार करके देखें तो उन्हें मालूम हो जाय कि परिवर्तन निरन्तर ही होते रहते हैं, हरएक सामाजिक नियम समयकी गतिके साथ कुछ-न-कुछ बदलता ही रहता है ।

उदाहरणके लिए इस लेखमें हम दास-प्रथा की चर्चा करना चाहते हैं । प्राचीनकालमें सारे देशोंमें दास-प्रथा या गुलाम रखनेका रिवाज था । भारतवर्षमें भी था । इस देशके अन्य प्राचीन ग्रन्थों के समान जैन-ग्रन्थोंमें भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं ।

जैनधर्मके अनुसार बाह्यपरिग्रहके दस भेद हैं—

> बाहिरसंगा खेत्तं
> वत्थं धणधण्णकुप्पभण्डानि ।
> दुपय-चउप्पय-जाणा-
> णि चेव सयणासणे य तहा ।१११६
>
> —भगवती आराधना

इसपर श्रीअपराजितसूरिकी टीका देखिए—

"बाहिरसंगा बाह्यपरिग्रहाः । खेत्तं कर्षणाद्यधिकरणं । वत्थं वास्तु-गृहं । धणं सुवर्णादि । धण्णं धान्यं व्रीह्यादि । कुप्प कुप्यं वस्त्रं । भण्ड भाण्डशब्देन हिंगुमरिचादिकमुच्यते । द्विपदशब्देन दासदासीभृत्यवर्गादि । चउप्पय गजतुरगादयः चतुष्पदाः । जाणाणि शिविकाविमानादिकं यानं । सयणासणे शयनानि आसनानि च ।"

अर्थात्—खेत, वास्तु (मकान), धन (सोना-चाँदी), धान्य (चावल आदि), कुप्य (कपड़े), भाण्ड (हींग मिर्चादि मसाले), द्विपद (दोपाये दास-दासी) चतुष्पद (चौपाये हाथी, घोड़े आदि) यान (पालकी विमान आदि), शयन (बिछौने और आसन ये बाह्य परिग्रह हैं ।

लगभग यही अर्थ पण्डित आशाधरजी और आचार्य अमितगतिने भी अपनी टीकाओं में किया है । इन दसमेंसे हम अपने पाठकोंका ध्यान द्विपद और चतुष्पद अर्थात् दोपाये और चौपाये शब्दोंकी ओर खींचना चाहते हैं । ये दोनों परिग्रह हैं । जिस तरह सोना, चाँदी, मकान, वस्त्र आदि चीज़ मनुष्यकी मालिकी समझी जाती हैं, इसी तरह दोपाये और चौपाये जानवर भी । चौपाये तो खैर, अब भी मनुष्य की जायदाद में गिने जाते हैं, परन्तु पूर्व कालमें दास-दासी भी जायदादके अन्तर्गत थे । पशुओंसे उनमें यही भिन्नता थी कि उनके

चार पाँव होते हैं और इनके दो। पाँचवें परिग्रह त्याग व्रतके पालनमें जिस तरह और सब चीज़ोंके छोड़नेकी ज़रूरत है उसी तरह इनकी थी। परन्तु शायद इन द्विपदोंको स्वयं छूटनेका अधिकार नहीं था।

दास दासियोंका स्वतन्त्र व्यक्तित्व कितना था, इसके लिए देखिए—

सच्चिता पुणगंथा
वधंति जीवे सयं च दुक्खंति।
पावं च तण्णिमित्तं
परिगिह्नं तस्स से होई ॥११६२

"सचित्ता पुणगंथा वधंति जीवेगंथा परिग्रहाः दासो दास गोमहिष्यादयो घ्नन्ति जीवान् स्वयं च दुखिता भवन्ति। कर्मणि नियुज्यमानाः कृष्यादिके पापं च स्वपरिगृहीतजीवकृतासंयमनिमित्तं तस्य भवति।"

—विजयोदया टीका

अर्थात्—जो दासी-दास गाय-भैंस आदि सचित्त (सजीव) परिग्रह हैं वे जीवोंका घात करते हैं और खेती आदि कामोंमें लगाये जाने पर स्वयं दुखी होते हैं। इसका पाप इनके स्वीकार करने वाले या मालिकोंको होता है। क्योंकि मालिकोंके निमित्तसे ही वे जीव-वधादि करते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व एक तरहसे था ही नहीं, अपने किये हुए पाप-पुण्यके मालिक भी वे स्वयं नहीं थे। अर्थात् दस तरहके बाह्यपरिग्रहोंमें जो 'दास-दासी' परिग्रह है उसका अर्थ जैसा कि आजकल किया जाता है 'नौकर नौकरानी' नहीं है, किन्तु गुलाम (Slave) है। इस समयके नौकरका तो स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वह पैसा लेकर काम करता है, गुलाम नहीं होता। कौटिलीय अर्थशास्त्रमें गुलाम के लिये 'दास' और नौकरके लिये 'कर्मकर' शब्दोंका व्यवहार किया गया है।

अनगारधर्मामृत अध्याय ४ श्लोक १२१ की टीकामें स्वयं पं० आशाधरने दास शब्दका अर्थ किया है—**"दासः क्रयक्रीतः कर्मकरः।"** अर्थात् खरीदा हुआ काम करने वाला। पं० राजमल्लजीने लाटीसंहिताके छठे सर्गमें लिखा है—

दासकर्मरता दासी
क्रीता वा स्वीकृता सती।
तत्संख्या व्रतशुद्ध्यर्थं
कर्तव्या सानतिक्रमात् ॥१५०॥
यथा दासी तथा दासः ....।

अर्थात्,—दास-कर्म करने वाली दासियाँ चाहे वह खरीदी हुई हों और चाहे स्वीकार की हुईं, उनकी संख्या भी व्रतकी शुद्धिके लिये बिना अतिक्रमके नियत कर लेनी चाहिये। इसी तरह दासों की भी।

इससे मालूम होता है कि काम करने वाली दासियाँ खरीदी जाती थीं और उनमें से कुछ स्वीकार भी करली जाती थीं। स्वीकृताका अर्थ शायद 'रखैल, होगा। **'परिग्रहीता'** शब्द शायद इसीका पर्यायवाची है।

यशस्तिलक में श्रीसोमदेवसूरिने लिखा है—

वधू-वित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने।
माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे॥

अर्थात्—पत्नी और वित्त-स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियोंको माता, बहिन और बेटी समझना गृहस्थाश्रमका ब्रह्म या ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

वित्तका अर्थ धन होता है, वित्त-श्री से तात्पर्य धनसे खरीदी हुई दासी होना चाहिये। इसका अर्थ वेश्या भी किया गया है परन्तु अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दासी अर्थ ही अधिक उपयुक्त होगा। कोशों में वार-योषित, गणिका पण्यस्त्री आदि नाम वेश्याके मिलते हैं, जिनके अर्थ समूहकी, बहुतोंकी या बाज़ारू औरत होता है, पर धन-स्त्री या वित्त-स्त्री जैसा नाम कहीं नहीं मिला।

गृहस्थ अपनी पत्नी और दासीको भोगता हुआ भी चतुर्थ अणुव्रतका पालक तभी माना जा सकता है, जब दासी गृहस्थकी जायदाद मानी जाती हो। जो लोग इस व्रतकी उक्त व्याख्या पर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं वे उस समयकी सामाजिक व्यवस्थासे अनभिज्ञ हैं, जिसमें 'दासी' एक परिग्रह या जायदाद थी। अवश्य ही वर्तमान दृष्टिकोणसे जब कि दास-प्रथाका अस्तित्व नहीं रहा है और दासी किसीकी जायदाद नहीं है, ब्रह्माणुव्रतमें उसका ग्रहण निन्द्य माना जाना चाहिये।

कौटिलीय अर्थशास्त्रमें 'दासकल्प' नामक एक अध्याय ही है, जिससे मालूम होता है कि दासी-दास खरीदे जाते थे, गिरवी रक्खे जाते थे और धन पाने पर मुक्त कर दिये जाते थे। दासियों पर मालिकका इतना अधिकार होता था कि वह उनमें सन्तान भी उत्पन्न कर सकता था। और उस दशामें वे गुलामीसे छुट्टी पाजाती थीं।

स्वामिनोऽस्यां दास्यां जातं समातृकमदासं विद्यात् ।३२।
गृह्या चेत्कुटुम्बार्थचिन्तनी माता भ्राता भगिनी चास्याः दास्याः स्युः ।३३।

—धर्मस्थीय तीसरा अधिकरण।

अर्थात्—यदि मालिकसे उसकी दासीमें सन्तान उत्पन्न हो जाय तो वह सन्तान और उसकी माता दोनों ही दासतासे मुक्त कर दिये जायँ। यदि वह स्त्री कुटुम्बार्थचिन्तनी होनेसे ग्रहण करली जाय, भार्या बन जाय तो उसकी माता, बहिन और भाइयोंको भी दासतासे मुक्त कर दिया जाय।

इन सूत्रोंकी रोशनीमें सोमदेवसूरिका ब्रह्माणुव्रतका विधान अयुक्त नहीं मालूम होता।

स्मृति-ग्रन्थोंमें दासोंका वर्णन बहुत विस्तारसे किया गया है।

मनुस्मृतिमें सात प्रकारके दास बतलाये हैं—

ध्वजाहृतो भुक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥

८—१५

अर्थात्—ध्वजाहृत (संग्राममें जीता हुआ) भुक्त-दास (भोजनके बदले रहने वाला, गृहज) (दासी-पुत्र), क्रीत (खरीदा हुआ), दत्त्रिम (दूसरे का दिया हुआ), पैत्रिक (पुरखोंसे चला आया), और दण्डदास (दण्डके धनको चुकानेके लिए जिसने दासता स्वीकारकी हो), ये सात प्रकार के दास हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृतिके टीकाकार विज्ञानेश्वर (१२ वीं सदी) ने पन्द्रह प्रकारके दास बतलाये हैं, जिनमें ऊपर बतलाये हुए तो हैं ही, उनके

सिवाय जुएमें जीते हुए, अपने आप बिके हुए, दुर्भिक्षके समय बचाये हुए आदि अधिक हैं। ये दास जो कुछ कमाते थे, उस पर उनके स्वामीका ही अधिकार होता था।

पूर्वकालमें भारतवर्षमें दास-विक्रय होता था, इसके अपेक्षाकृत आधुनिक प्रमाण भी अनेक मिलते हैं—

ईसा की चौदहवीं सदीके प्रसिद्ध भारतयात्री इब्नबतूताने बङ्गालका वर्णन करते हुए लिखा है कि "यहाँ तीस गज़ लम्बा सूती वस्त्र दो दीनार में और सुन्दर दासी एक स्वर्ण दीनार-में मिल सकती है। मैंने स्वयं एक अत्यन्त रूपवती 'आशोरा' नामक दासी इसी मूल्यमें तथा मेरे एक अनुयायीने छोटी अवस्था का 'लूलू' नामक एक दास दो दीनारमें मोल लिया था*। अर्थात् उस समय दास-दासी अन्य चीज़ोंके ही समान मोल मिल सकते थे।

बङ्गला मासिक 'भारतवर्ष' (वर्ष ११ खण्ड २ अङ्क ६ पृ० ८४७) में प्रो० सतीशचन्द्र मित्र का 'मनुष्यविक्रय पत्र' नामक एक लेख छपा है। जिसमें दो दस्तावेज़ों की नक़ल दी है—

(१) प्रायः २५० वर्ष पहले बरीसालके एक कायस्थने ७ छोटे बड़े स्त्री-पुरुषों को ३१) रुपये-में बेचा था। यह दस्तावेज फाल्गुन १३१६ (बंगला संवत) के 'ढाका रिव्यू' में प्रकाशित हुई है। (२) दूसरी दस्तावेज १६ पौष ११९४ (बं० सं०) की लिखी हुई है। उसका सार यह है कि, अमीराबाद परगना (फरीदपुर-जिला) के गोयाला ग्राम-निवासी रामनाथ चक्रवर्तीने अपने पद्मलोचन नामक सात वर्षकी उम्रके दासको दुर्भिक्षवश अन्न-वस्त्र न दे सकनेके कारण २) पण लेकर राजचन्द्र सरकारको बेच दिया। यह सदैव सेवा करेगा। इसे अपनी दासीके साथ ब्याह देना। ब्याहसे जो सन्तान होगी वह भी यही दास-दासी कर्म करेगी। यदि यह कभी भाग जाय तो अपनी क्षमतासे पकड़वा लिया जाय। यदि मुक्त होना चाहे तो २२ मन सीसा (?) और रसून (लशून ?) देकर मुक्त हो जाय। दस्तावेज लिख दी कि सनद रहे।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वकाल में दास-दासी एक तरहकी जायदाद ही थे,। ख़रीदे-बेचे जा सकते थे, वे स्वयं अपने मालिक न थे, इसीलिए उनकी गणना परिग्रहमें की गई है।

यह सच है कि अमेरिका-यूरोप आदि देशों-के समान यहाँ गुलामों पर उतने भीषणअत्याचार-न होते थे जिनका वर्णन पढ़कर रोंगटे खड़े हो आते हैं और जिनको स्वाधीन करनेके लिए अमेरिका में (सन् १८६०) चार पाँच वर्ष तक जारी रहने वाला 'सिविल-वार' हुआ था*। फिर भी इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतवर्षमें भी गुलाम रखनेकी प्रथा थी और उनकी हालत लगभग पशुओं जैसी ही थी। सन् १८५५ में ब्रिटिश पार्लमेंटने एक नियम बना-कर इसे बन्द किया है। यद्यपि इनके अवशेष अब भी कहीं कहीं मौजूद हैं।

* देखो, काशीविद्यापीठ-द्वारा प्रकाशित 'इब्नबतूता की भारतयात्रा' का पृष्ठ ३६१।

* गुलामीका परिचय प्राप्त करने के लिए बुकर टी० वाशिंगटनका 'आत्मोद्धार' और मिसेज एच० वी० स्टो की लिखी हुई 'टाम काका की कुटिया' आदि पुस्तकें पढ़नी चाहिए।

अमर मानव

[लेखक—श्री सन्तराम बी० ए०]

एक फौजी डाक्टर लिखता है,—"चिकित्सा-शास्त्र ही रोगियोंकी प्राण-रक्षा नहीं कर सकता। कोई भी डाक्टर, जिसने युद्ध-क्षेत्रमें काम किया है, यह बात जानता है। अनेक ऐसे मनुष्य देखनेमें आये हैं, जिनको दवा-दारू और शस्त्र-चिकित्सा बचानेमें सर्वथा विफल रही और घायल मनुष्य केवल अपनी इच्छाशक्तिसे ही तन्दुरुस्त होकर पुनः लड़नेके लिये क्षेत्रमें चले गये।"

मैं एक उदाहरण देता हूँ। सन् १९१८ में शेरोथियरीके मोर्चेके पीछे एक अस्थायी अस्पताल-में कई घायल सिपाही पड़े थे। उनमें आयोवाका एक आयरिशमैन भी था। एक गोली उसके दाहिने पार्श्वमें, हँसलीकी हड्डीके पीछेसे घुसी और उसके फेफड़े, डायाफ्राम (Diaphragm) पित्तकोष और यकृतमेंसे होकर निकल गयी थी। उसकी अँतड़ियोंमें १३ छेद हो गये थे, उनमेंसे छः दुहरे रन्ध्र थे।

मैंने पूछा—"क्या वह होश में था ?"

"बिलकुल होशमें, और बातें करता था। जब हम उसके शरीरकी परीक्षा कर रहे थे और आपरेशनकी तैयारी हो रही थी, तो उसने इतने उच्च स्वरसे कहा, जिसे कि, अस्पतालमें मौजूद प्रत्येक सचेत मनुष्यने सुना,—"डाक्टर ! मैं बिल-कुल तन्दुरुस्त हो जाऊँगा, मेरी कुछ चिन्ता न कीजिये।"

हमने उसे ईथरसे अचेत किया, उसका पेट चीरकर खोला, उसके छेदोंको सिया और दूसरी सभी आवश्यक बातें कीं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि, वह जीता बच निकला। ईथरका असर दूर होते ही वह बड़े बलके साथ बोला—"मैं बिलकुल ठीक हूँ।" उसके निकट ही एक दर्जन दूसरे सिपाही भयङ्कररूपसे आहत पड़े थे। उनमेंसे एक खम्भ की तरह उठकर बैठ गया। उसने आयोवाके सिपाहीको ध्यानपूर्वक देखा और खिलखिलाकर हँस पड़ा। वह बोला,—"यदि यह इस कष्टमेंसे जीता निकल सकता है, तो मैं भी बच सकता हूँ।"

उस दिनसे लेकर एक सप्ताह पीछेतक, जब मैं बदलकर दूसरे सेक्शनमें चला गया, रोगी मुझे प्रणाम कहनेके बजाय यही कहा करता—"डाक्टर ! मैं बिलकुल तन्दुरुस्त हो जाऊँगा, मेरी कुछ चिन्ता न कीजिये।" वह एक ऐसा मानव बन गया, जो मरेगा नहीं और उसने अपने इर्द-गिर्द के दूसरे घायलोंमें जीते रहनेका निश्चय कर दिया ! उसकी अवस्था कई बार बिगड़ी, तापमान बहुत ऊँचा हो गया, नाड़ी तेजीसे चलने लगी और बड़े ही दुःखद लक्षण प्रकट हुए; परन्तु अपने बारबार होनेवाले चित्तभ्रमोंमें एकबार भी उसका यह विश्वास शिथिल न हुआ कि, मैं चङ्गा हो जाऊँगा।

उसने नर्सके द्वारा सन्देश भेजने आरम्भ किये। वह नर्ससे कहता,—"आप जाकर उस

उदास लेटे हुए सिपाही से कहिये कि, मेरे शरीरके भीतर १३ से २० तक छेद हैं और मैं फिर भी तन्दुरुस्त होकर पुनः रण-क्षेत्रमें जाऊँगा।" उस व्यक्तिसे कहिये,—जो समझ रहा है कि, उसे पक्षाघात हो जायगा,—कि,—"यह युद्ध अभीतक आरम्भ ही नहीं हुआ" और कहिये कि—"जितनी जल्दी हो सके, वह अपने काम पर चला जाय।" एक अफ़सरका दायाँ पार्श्व छर्रे से उड़ गया था। उससे इसने कहा,—"जब तक आपकी छातीमें हृदयमें मौजूद है, आपको कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। आप जैसा नवयुवक बड़ेसे बड़ा कष्ट सहन करके भी जीता बच सकता है। जब मैं चङ्गा होकर वापस घर जाऊँगा, तो अपने छोटे बच्चोंसे कहूँगा कि अस्पतालमें मैंने एक मास की 'फरलो' की छुट्टी काटी है।"

विदाके दिन मैं उनको नमस्कार कहनेके लिये ठहर गया। मैंने कहा,—डाक्टर ! मुझे अपना पता बताते रहना, मैं आपको पत्र लिखूंगा। इस प्रकार आपको मालूम हो जायगा कि, मैं कब अपनी रेजीमेंट में वापस जाता हूँ। वीर मनुष्य यहाँ लेटकर नरसोंसे सेवा कराते हुए जीवन नहीं बिता सकता। डाक्टर! नमस्कार, मेरी कुछ चिन्ता न करना।"

ये आशाजनक शब्द अनिवार्यरूपसे रोज़ दुहराये जाते थे और अस्पतालमें प्रत्येक व्यक्तिको अनुप्राणित करते थे। अधिक शोचनीयरूपसे आहत १२ व्यक्तियोंमेंसे चार मर गये; परन्तु बाकी आठ इतने पूर्णरूपसे उसके प्रभावके नीचे आ गये कि, वे सबके सब उस महासंकटमेंसे बचकर निकल आये। डाक्टर और नरसें एक समान अनुभव करती थीं और इतने उच्च स्वरसे कि, जिसे सब कोई सुन सकता था, कहती थीं,—"मैं बिलकुल तन्दुरुस्त हूँ।"—बादको जब वह आशावादी रोगी चङ्गा होकर अस्पतालसे चला गया, एक सर्जन मिला। उसने मुझे बताया कि, अस्पतालके वार्डमें प्रत्येक व्यक्ति विश्वास करता था, कि उस आयरिशमैनने उसे मृत्युके मुखसे निकाला है।

उस सिपाहीने मुझे सिखाया कि, हतोत्साहित सिपाही मृत्यु-मुखकी ओर खिसकने लगता है और आशाके बिना दवा-दारू कुछ भी काम नहीं देती। मैं युद्धसे जो निशानियाँ लाया हूँ, उनमें एक चिट्ठी है, जो मोरचेमेंसे एक ऐसे सिपाहीकी लिखी हुई है, जो तन्दुरुस्त होकर पुनः अपनी रेजीमेंटमें गया था। वह मैं यहाँ पूरीकी पूरी उद्धृत करता हूँ—

"डाक्टर ! मैं बिलकुल तन्दुरुस्त हूँ, मेरी कुछ चिन्ता न कीजिये।"

(गृहस्थसे)

भूल स्वीकार

[लेखक—श्री सन्तराम बी० ए०]

अमेरिकामें डेलकारनेगी नामके एक सज्जन लोगोंको मित्र बनाने और जनता को प्रभावित करनेकी कलाके विशेषज्ञ हैं। उन्होंने इस विषयपर कई उत्तम ग्रंथ भी लिखे हैं। दूसरे लोगों को अपने विचारका बनाना एक गुर वे यह बताते हैं कि, यदि हम ग़लती पर हों, तो हमें अपनी ग़लतीको मान लेना चाहिये। इससे दूसरा व्यक्ति शस्त्र डाल देता है। वे अपने जीवनकी एक घटना इस प्रकार लिखते हैं,—

"यद्यपि मैं न्यूयार्कके औद्योगिक केन्द्रमें रहता हूँ, तो भी मेरे घरसे मिनटकी दूरीपर जंगली लकड़ीका एक छोटासा नैसर्गिक वन है, जहाँ वसन्त-ऋतुमें ब्लेकबैरीके सफ़ेद फूलोंका वितान तन जाता है, जहाँ गिलहरियाँ घोंसले बनाकर बच्चे पालती हैं और जहाँ घोड़ा-घास घोड़ेके सिरके बराबर लंबी उगती है। यह प्राकृतिक बन-भूमि फ़ॉरिस्टपार्क कहलाती है। मैं बहुधा अपने कुत्ते, रेक्सके साथ इस पार्कमें घूमने जाया करता हूँ। रेक्स एक स्नेही और निर्दोष कुत्ता है पार्कमें हमें क्वचित् ही कोई मनुष्य मिलता है। इसलिये मैं रेक्सके गलेमें न तसमा बाँधता हूँ और न मुँह-पर मुसका।

एक दिन हमें पार्कमें एक घुड़सवार पुलिसमैन मिला। उसे अपना अधिकार दिखानेकी खुजली हो रही थी। उसने मुझे तीव्र भर्त्सना करते हुए कहा,—"आपने कुत्तेको इस पार्कमें तसमे और मुसकेके बिना क्यों छोड़ रक्खा है? क्या आप नहीं जानते कि, यह क़ानूनके विरुद्ध है?" मैंने नरमीसे उत्तर दिया:—"हाँ, मैं जानता हूँ। परन्तु मैं समझता था कि, यह यहाँ कोई हानि नहीं पहुँचायेगा।" "आप नहीं समझते थे! आप नहीं समझते थे! आप क्या समझते हैं, क़ानूनको इसकी रत्ती भर भी परवाह नहीं हो सकती है कि यह कुत्ता किसी गिलहरीको मार डाले अथवा किसी बच्चेको काट खाये। अब इस बार तो मैं आपको छोड़ देता हूँ; परन्तु यदि मैंने फिर कभी इस कुत्तेको यहाँ बिना तसमे और मुसकेके देख लिया, तो आपको जजके सामने पेश होना पड़ेगा।"

मैंने विनीत भावसे उसकी आज्ञाका पालन करनेका वचन दिया और मैंने आज्ञा-पालन किया—थोड़ी बार। परन्तु रेक्स मुसकेको पसन्द नहीं करता था। और न मैं करता था। इसलिये हमने अवसर देखनेका निश्चय किया। कुछ समय तक प्रत्येक बात मनोहर थी; परन्तु हम फिर पकड़े गये। एक दिन तीसरे पहर रेक्स और मैं एक पर्वतकेमाथे पर दौड़ रहे थे। वहाँ सहसा क़ानून की विभूति कुम्मैत घोड़े पर सवार देख पड़ा। रेक्स मेरे आगे-आगे सीधा पुलिस अफ़सरके पीछे दौड़ा जा रहा थाइससे मुझे बड़ी व्याकुलता हुई।

मैं इसमें फँसता था, यह बात मुझे मालूम थी। इसलिए मैंने पुलिसमैनके बात आरम्भ

करनेकी प्रतीक्षा नहीं की । मैंने आप ही पहल करदी। मैंने कहा—"अफ़सर महोदय, आपने मुझे अपराध करते हुए पकड़ लिया है । मैं अपराधी हूँ। मेरे पास अपराधके समय किसी दूसरी जगह होनेका कोई उज्र या बहाना नहीं। आपने गत सप्ताह मुझे चेतावनी दी थी कि, यदि तुम इस कुत्तेको बिना मुसका लगाये यहाँ लाये, तो तुम्हें जुर्माना हो जायगा ।"

पुलिसमैनने मृदुस्वरमें उत्तर दिया,—"हाँ, ठीक है, मैं जानता हूँ कि, यहाँ जब कोई मनुष्य इर्द-गिर्द न हो, तो इस जैसे छोटे कुत्तेको खुला दौड़ने देने का प्रलोभन हो ही जाता है।"

मैंने उत्तर दिया,—"निश्चय ही यह प्रलोभन है। परन्तु यह क़ानूनके विरुद्ध है।"

पुलिसमैनने प्रतिवाद करते हुए कहा,—"इस जैसा छोटा कुत्ता किसीको हानि नहीं पहुंचायगा।"

मैंने कहा,—"नहीं, परन्तु हो सकता है कि, वह किसी गिलहरीको मार डाले।"

उसने मुझे बताया।—"मैं समझता हूँ आप इसे बहुत गम्भीर भावसे ले रहे हैं। मैं बताता हूँ कि आप क्या करें। आप उसे वहाँ पहाड़ पर दौड़ने के लिए छोड़ दिया कीजिये, जहाँ मैं उसे न देख सकूँ—और हमें इसकी कुछ याद ही न रहेगी।"

वह पुलिसमैन होनेके कारण, महत्ताका भाव चाहता था। इसलिये जब मैं अपनेको धिक्कारने लगा, तो अपनी आत्म-पूजाको पोषित करनेका एक ही मार्ग उसके पास रह गया और वह था उदारभावसे दया दिखाना।

परन्तु मान लीजिये, मैंने अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेका यत्न किया होता—ठीक, क्या आपने कभी पुलिसमैनके साथ वाद-विवाद किया है?

परन्तु उसके साथ लड़नेके बजाय, मैंने स्वीकार कर लिया कि, वह बिलकुल सच्चा है और मैं सरासर ग़लती पर हूँ। मैंने यह बात शीघ्रता से, स्पष्टतासे और उत्साहपूर्वक मानली, उसके मेरा पक्ष लेने और मेरे उसका पक्ष लेनेसे मामला अनुकूलता-पूर्वक समाप्त होगया।

दूसरोंके मुखसे निकली हुई डांट-फटकार सहन करनेकी अपेक्षा क्या आत्म-आलोचना सुनना अधिक सहज नहीं? यदि हमें पता हो कि, दूसरा मनुष्य हम पर बरसेगा, तो क्या यह अच्छा नहीं कि उसके बोलनेके पूर्व स्वयं ही उसके हृदयकी बात कह दी जाय?

अपने सम्बन्धकी वे सब निन्दासूचक बातें कह डालिये, जो आप समझते हैं कि, दूसरा व्यक्ति आपसे कहनेके लिए सोच रहा है, या कहना चाहता है, या कहनेका विचार रखता है—और उन्हें उसे कहनेका अवसर मिलनेके पूर्व ही कह दीजिये—और उसका क्रोध शान्त हो जायगा। सौ पीछे निन्नानवे दशाओंमें वह उदार और क्षमाशील भाव ग्रहण कर लेगा और आपकी भूलोंको यथासम्भव कम करके दिखलायगा—ठीक जिस प्रकार पुलिसमैनने कारनेगी और उनके कुत्तेके साथ किया।

—(गृहस्थसे)

गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी त्रुटि-पूर्ति

[लेखक—पं० परमानन्द शास्त्री]

आचार्य नेमिचन्द्र-विरचित गोम्मटसारके पठन पाठनका दिगम्बर जैनसमाजमें विशेष प्रचार है। इस ग्रन्थमें कितना ही महत्व-पूर्ण कथन पाया जाता है, जो अन्य ग्रन्थोंमें बहुत कम देखनेमें आता है। इससे करणानुयोगके जिज्ञासुओंको वस्तु तत्त्वके जाननेमें विशेष सहायता मिलती है। इस ग्रंथके दो विभाग हैं, एक जीवकाण्ड और दूसरा कर्मकाण्ड। इनमेंसे प्रथम काण्डकी रचना बहुत ही सुसम्बद्ध और त्रुटिरहित है। किन्तु उसके उपलब्ध दूसरे काण्डके 'प्रकृति समुत्कीर्तन' नामक प्रथम अधिकारमें बहुत कुछ त्रुटियाँ पाई जाती हैं, जिनके कारण उसकी रचना असम्बद्ध-सी हो गई है। अनेक विद्वानोंको उसके विषयमें कितना ही सन्देह हो रहा है। मुद्रित प्रतिको ध्यान पूर्वक पढ़नेसे त्रुटियों और तज्जन्य असम्बद्धताका बहुत कुछ अनुभव हो जाता है। यद्यपि संस्कृत और भाषा टीकाकारोंने उक्त अधिकारकी अपूर्णता एवं असम्बद्धताको बहुत-कुछ अंशोंमें दूर कर दिया है फिर भी उसकी मूल-विषयक-त्रुटियाँ अभी तक ज्योंकी त्यों बनी हुई हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिये यहाँ उनमें से कुछ खास खास त्रुटियोंका दिग्दर्शन कराया जाता है:—

(१) उक्त 'प्रकृति समुत्कीर्तन' नामक अधिकारमें कर्मकी मूल आठ प्रकृतियोंके नाम, लक्षण तथा उनके कार्योंका वर्णन, क्रम स्थापन और उदाहरण द्वारा स्वभाव निर्देशके अनन्तर २२वीं गाथामें मूलकर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी संख्याका क्रमिक निर्देश किया गया है ‡। इसके बाद अधिकार भरमें कहीं भी उत्तर प्रकृतियोंके क्रमशः नाम और स्वरूप आदिका कोई वर्णन न करके एकदम बिना किसी पूर्व सम्बन्धके दर्शनावरणकर्मके नव भेदोंमेंसे पांच निद्राओंका कार्य २३, २४ और २५ नं०की तीन गाथाओं द्वारा बतला दिया गया है। और इससे यह कथन सम्बन्ध विहीन तथा क्रम विहीन होनेके कारण स्पष्टतया असंगत जान पड़ता है। २२वीं गाथाके अनन्तर तो ज्ञानावरण कर्मके पाँच भेदों तथा दर्शनावरण कर्मके प्रथम चक्षु, अचक्षु आदि चार भेदोंके नाम स्वरूपादिका वर्णन होना चाहिये था, तब कहीं पाँच निद्राओंके कार्यका वर्णन संगत बैठता। परन्तु ऐसा नहीं है, और इसलिये यह स्पष्ट है कि यहाँ निद्राओंसे पूर्वका कथन त्रुटित है।

(२) निद्रा-विषयक २५ वीं गाथाके बाद २६ वीं गाथामें बिना किसी सम्बन्धके मिथ्यात्व

---

‡ वह गाथा इस प्रकार है:—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणउदी।
ते उत्तरं सयं वा दुग पणगं उत्तरा होंति ॥२२॥

द्रव्यके तीन भेद किस तरह हो जाते हैं, यह कथन किया गया है, जब कि कथनको संगत बनानेके लिये यह आवश्यक था कि क्रम प्राप्त वेदनीयकर्म और मोहनीय कर्मके भेद-प्रभेदादिका कथन किया जाता; और उसके बाद २६ वीं गाथाको दिया जाता, जैसा कि संस्कृत और भाषा टीकाकारोंने किया है। बिना ऐसा किये ग्रंथ सन्दर्भके साथ यह गाथा संगत मालूम नहीं होती और अपनी स्थिति परसे इस बातको सूचित करती है कि उससे पहलेकी कुछ गाथाएँ वहाँ छूट रही हैं।

(३) दर्शनमोह-विषयक २६ वीं गाथाके बाद चारित्र मोहनीय कर्मके २५ भेदों और आयु कर्मके चार भेदोंका तथा नाम कर्मकी पिण्ड-अपिण्ड प्रकृतियोंके उल्लेखपूर्वक गति-जाति-विषयक प्रकृतियोंका कोई वर्णन न करके और शरीरके नामों तक का उल्लेख न करके २७ वीं गाथामें औदारिकादि पाँच शरीरोंके संयोगी भेदोंका कथन किया गया है। इससे इस गाथाकी स्थिति भी २६ वीं गाथा जैसी ही है और यह भी अपने पूर्वमें बहुतसे कथन के त्रुटित होनेको सूचित करती है।

(४) २८ वीं गाथाकी स्थिति भी उक्त दोनों गाथाओं जैसी ही है; क्योंकि इसके पूर्वमें शरीर के बन्धन, संघात और संस्थान नामके भेद-प्रभेदों का तथा अंगोंपाँग नामके औदारिकादि मुख्य तीन भेदोंका भी कोई वर्णन अथवा उल्लेख न करके, इसमें मात्र शरीरके आठ अंगोंके नाम दिये हैं और शेषको उपांग बतलाया है। बन्धनादिका उक्त सब कथन बादको भी नहीं किया गया है और इसलिये यह सब यहाँ पर त्रुटित है, जिसे टीकाकारोंने पूरा किया है।

(५) अंगोपाँग-विषयक २८ वीं गाथाके बाद विहायोगति नामकर्म तथा छह संहननोंके नाम और उनके स्वरूपका कोई उल्लेख न करके छह संहनन वाले जीव किस किस संहननसे कौन कौन गतिमें उत्पन्न होते हैं इत्यादि वर्णन २९-३०-३१-३२ नं० की चार गाथाओंमें किया गया है। और वर्णन भी मात्र वैमानिक देवों तथा नारकियोंमें उत्पत्तिके नियमका निर्देश करता है तथा कर्म भूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन संहननोंका ही उदय बतलाता है। शेष मनुष्य तिर्यंचोंमें कितने संहननों का उदय होता है ऐसा कुछ भी नहीं बतलाया और न गुणस्थानों, कालों अथवा क्षेत्रोंकी दृष्टिसे ही संहननोंका कोई विशेष कथन किया है। ऐसी हालतमें उक्त चारों गाथाओंका वर्णन असंगत होनेके साथ साथ अधूरा और लँडूरा जान पड़ता है। इन गाथाओंके पूर्वमें तथा मध्यमें भी कितना ही कथन छूटा हुआ मालूम होता है।

इन गाथाओंकी ऐसी स्थिति देखकर ही आज से कोई २१ वर्ष पहले पं० अर्जुनलालजी सेठीने 'सत्योदय' पत्रमें लिखे हुए अपने 'स्त्री-मुक्ति' नामक निबन्धमें कर्मकाण्डके उक्त 'प्रकृति समुत्कीर्तन' अधिकारको त्रुटि-पूर्ण एवं सदोष बतलाते हुए संहनन-विषयक उक्त चारों गाथाओंको क्षेपक क़रार दिया था और यह भी बतलाया था कि इन का संकलन यहाँ पर अनुपयुक्त है।

मोटी मोटी त्रुटियोंके इस दिग्दर्शन परसे कोई भी सहृदय विद्वान् यह नहीं कह सकता कि नेमिचन्द्र जैसे सिद्धान्त चक्रवर्ति विद्वान् आचार्यने

अपने कर्मकाण्डको ऐसा त्रुटि-पूर्ण बनाया होगा, खासकर ऐसी हालतमें जब कि उनका जीवकाण्ड बहुत ही सुसंगत और सुव्यवस्थित जान पड़ता है, अवश्य ही इसमें लेखकोंकी कृपासे कुछ गाथाएँ छूट गई हैं।

हालमें मुझे आचार्य नेमिचन्द्रके 'कर्म प्रकृति', नामक एक दूसरे ग्रन्थका पता चला और इससे उसको देखनेके लिये मेरी इच्छा बलवती हो उठी। प्रयत्न करने पर आरा जैनसिद्धान्त भवन के अध्यक्ष पं० के. भुजबलीजी शास्त्रीके सौजन्यसे मुझे इस ग्रन्थकी एक दस पत्रात्मक प्रतिकी प्राप्ति हुई, जो विक्रम संवत् १६६९ की लिखी हुई है *। इसमें कुल गाथाएँ १५९ हैं, परन्तु लिपिकर्ताने गाथाओंकी संख्या १६४ दी है जो कुछ गाथाओं पर गलत अंक पड़ जानेका परिणाम जान पड़ता है, और यह भी हो सकता है कि ५ गाथाएँ लिखनेसे छूट गई हों, जिसका पता दूसरी प्रतियों के सामने आनेसे ही चल सकता है, अस्तु।

इस ग्रन्थ-प्रतिको देखने और कर्मकाण्डके साथ उसकी तुलना करनेसे मेरे आनन्दका पार नहीं रहा, क्योंकि मैंने जिन त्रुटियोंकी कल्पना की थी वह सब ठीक निकली और उनकी पूर्तिका मुझे सहज ही मार्ग मिल गया। इस प्रकरण ग्रंथ परसे कर्मकाण्डका वह सब अधूरापन और असंगतपन दूर हो जाता है जो अर्सेसे विद्वानोंको खटक रहा है। इस 'कर्म प्रकृति' प्रकरणकी १५९ गाथाओंमेंसे ७५ गाथाएँ ऐसी हैं जो उक्त काण्डमें नहीं पाई जातीं और जिन्हें यथास्थान जोड़ देनेसे कर्मकांडका सारा अधूरापन दूर होकर सब कुछ सुसम्बद्ध हो जाता है। शेष ८४ गाथाएँ उसमें पहलेसे ही मौजूद हैं। इन ७५ गाथाओंमें ७० गाथाएँ तो कर्मकांडके उक्त प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारमें उपयुक्त बैठती हैं और शेष ५ गाथाएँ कर्मकाण्डकी ८०८ नंबरकी गाथाके बाद होनी चाहियें, क्योंकि इन ५ गाथाओंके बाद कर्मप्रकृति में जो दो गाथाएँ और दी हैं वे उक्त काण्डमें ८०९ और ८१० नम्बर पर पाई जाती हैं।

अब वे ७५ गाथाएँ कौनसी हैं और उनमें से कौन कौन गाथा कर्मकाण्डमें कहाँ पर ठीक बैठती हैं उसे क्रमशः बतलाया जाता है—

कर्मकाण्डके 'प्रकृति समुत्कीर्तन' नामक प्रथम अधिकारमें मंगलाचरणसे लेकर १५ नं० तक जो गाथाएँ हैं वे सब 'कर्म प्रकृतिमें भी ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं और यह बात दोनोंके एक ही प्रकरण होनेको सूचित करती है। १५वीं गाथामें सप्तभंगों द्वारा पदार्थोंके श्रद्धानकी बात कही गई है, परन्तु वे सप्तभंग कौनसे हैं यह कर्मकाण्डसे मालूम नहीं होता, कर्म प्रकृतिमें उनकी सूचक निम्न गाथा दी है जो १६वें नम्बर पर ठीक जान पड़ती है —

सियअत्थि णत्थि उभयं अव्वतव्वं पुणो वि तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥१६॥

कर्मकाण्डकी २० नं०की गाथाके बाद, जिसका नं० एक गाथाके बढ़ जानेके कारण २१ हो जाता है, कर्म प्रकृतिमें निम्न पाँच गाथाएँ और दी हैं, जिनमें कर्म बंधका विशेष एवं संगत वर्णन पाया जाता है :—

---

* 'ऐलक पन्नालाल सरस्वति भवन' बम्बईमें भी इस ग्रन्थकी एक प्रति है।

जीवपएसेक्केके कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा ।
होंति घणणिबडभूवं संबंधो होइ णायव्वो ॥२२॥

अत्थि अणाईभूओ बंधो जीवस्स विविहकम्मेण ।
तस्सोदएण जायइ भावो पुण राय-दोस-मओ ॥२३॥

भावेण तेण पुणरवि अण्णे बहुपुग्गला हु लग्गंति ।
जह तुप्पि य गत्तस्स य णिवडारेणुव्व लग्गंति ॥२४॥

एक समयणिबद्धं कम्मं जीवेण सत्तभेयंहि ।
परिणमइ आउकम्मं बंधं भूयाउ सेसेण ॥२५॥

सो बंधो चउभेयो णायव्वो होदि सुत्तणिद्दिट्ठो ।
पयडिट्ठिदिअणुभागप्पएसबंधोहु चउविहो कहियो ॥२६॥

कर्मकाण्डकी २१वीं गाथाके बाद कर्मप्रकृतिमें निम्न आठ गाथाएँ और पाई जाती हैं, जिनमें उक्त गाथोल्लेखित आठ कर्मोंके स्वभाव विषयक दृष्टान्तोंको स्पष्ट करके बतलाया है, और इसलिये ये सब वहाँ सुसंगत जान पड़ती हैं—

णाणावरणंकम्मं पंचविहं होइ सुत्तणिद्दिट्ठं ।
जह पडिमोपरिखित्तं कप्पडयं छाययं होइ ॥२८॥

दंसणआवरणं पुण जिह पडिहारो हु णिवदुवारम्हि ।
णवविहं पउत्तं पुरत्थवागिहि सुत्तम्हि ॥२९॥

महुलित्तखग्गसरिसं दुविहं पुण होइ वेयणीयं तु ।
सायासायविभिण्णं सुह-दुक्खं देइ जीवस्स ॥३०॥

मोहेइ मोहणीयं जह मयिरा अहव कोदवा पुरिसं ।
तं अडवीस विभिण्णं णायव्वं जिणु वदेसेण ॥३१॥

आउं चउप्पयारं णारय-तिरिच्छ मणुय सुरगईयं ।
हडिखित्तपुरिससरिसे जीवे भवधारणं समत्थं ॥ ३२

चित्तं पडंबविचित्तं णाणा णाम णिवत्तणं णामं ।
तेया णवणिय गणियं गइ-जाइ-सरीर-आईयं॥३३॥

गोदं कुलाल सरिसं णीचुच्चकुलेसु पायणे दच्छं ।
घडरंजणाय करणे कुंभायारो जहा णेवणो ॥३४॥

जह भंडयार पुरिसो धणं णिवारेइ रायिणा दिण्णं ।
तह अंतराय पणगं णिवारयं होइ लद्धीणं ॥३५॥

कर्मकाण्डकी २२वीं गाथाके बाद कर्म प्रकृतिमें निम्न १२ गाथाएँ और पाई जाती हैं जिनसे उस त्रुटिकी पूर्ति हो जाती है जिसका उल्लेख ऊपर नं०१में किया गया है—

अहिमुहणियमयबोहणमाभिणि बोहियमणिदंइंदियजं ।
बहुआदि उग्गहादिक कय छत्तीसा-तिसय भेदं ॥३७॥*

अत्थादो अत्थंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं ।
आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ॥३८॥*

*अवहीयदित्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये ।
भवगुणपच्चयविहियं जं ओहि णाणत्तिणं विंति ॥३९॥

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतिय मणेयभेयगयं ।
मणपज्जवंति उच्चइजं जाणइ तं खु णरलोए ॥४०॥*

संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं ।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं ॥४१॥*

मदसुदओहिमणपज्जवकेवलणाणआवरणमेवं ।
पंचवयप्पं णाणावरणीयं जाण जिणभणिदं ॥४२॥

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु मायारं ।
अविसेसदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ॥४३॥*

चक्खूण जं पयासइ दीसइ तं चक्खू दंसणं बिंति ।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खुत्ति ॥४४॥*

परमाणुआदियाइं अंतिमखंधत्ति मुत्तिदव्वाइं ।
तं ओहि दंसणं पुण जं पस्सइ ताइ पच्चक्खं ॥४५॥*

बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।
लोयालोयवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ ॥४६॥*

---

* इस चिन्ह वाली गाथाएँ गोम्मटसार जीवकाण्डमें क्रमशः नम्बर ३०५, ३१४, ३६६, ४३७, ४५६, ४८१, ४८३, ४८४, ४८५, २८३, २८४, २८५, २८६, २७३, २७२, २७४ पर उपलब्ध होती हैं ।

चक्खु अचक्खू ओही केवलआलोयणाणमावरणं ।
इत्तो व भणिस्सामो पणणिद्दा दंसणावरणं ॥४७॥
अह थीणगिद्धिणिद्दा णिद्दाणिद्दा य तहेव पयला य ।
णिद्दा पयला एवं णवभेयं दंसणावरणं ॥४८॥

कर्मकाण्डकी २५ वीं गाथाके अनन्तर कर्म-प्रकृतिमें निम्न दो गाथाएँ और हैं जिनसे उस त्रुटिकी पूर्ति हो जाती है जिसका उल्लेख ऊपर नं० २ में किया गया है। क्योंकि इनमेंसे पहली गाथामें क्रमप्राप्त वेदनीयकर्मके साता-असाता रूपमें दो भेदों और मोहनीयकर्मके दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय ऐसे दो भेदोंका उल्लेख करके दूसरी गाथामें यह प्रकट किया है कि दर्शन मोहनीय बंधकी अपेक्षा एक मिथ्यात्व रूप ही है और उदय तथा सत्ताकी अपेक्षा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृतिके भेदसे तीन भेदरूप हैं। और इसलिये इनके बाद २६ वीं गाथाका वह कथन संगत बैठ जाता है जिसका उक्त नं० २ में उल्लेख है:—

दुविहं खु वेयणीयं सादमसादं च वेयणीयमिदि ।
पुण दुवियप्पं मोहं दंसणचारित्तमोहमिदि ॥५२॥
बंधादिगं मिच्छं उदयं सत्तं पडुच्च तिविहं खु ।
दंसणमोहं मिच्छं मिस्सं सम्मत्तमिदि जाण ॥५३॥

कर्मकाण्डकी २६ वीं गाथाके बाद कर्मप्रकृति में निम्न गाथाएँ और हैं जिनसे उस त्रुटिकी पूर्ति हो जाती है जिसका उल्लेख ऊपर नं० ३ में दिया गया है:—

दुविहं चरित्तमोहं कसायवेयणियणोकसायमिदि ।
पढमं सोलवियप्पं विदियं णवभेयमुद्दिट्ठं ॥५५॥
अणं अपचक्खाणं पच्चक्खाणं तहे वसंजलणं ।
कोहो माणं माया लोहो सोलस कसा एदे ॥५६॥
सिलपुढविभेदधूली जलराइसमाणओ हवे कोहो ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥५७॥*
सिलट्ठिकट्ठवेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणं ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥५८॥*
वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे ।
सरिसीमायाणारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जीवं॥५९॥*
किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो ।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो ॥६०॥*
सम्मत्तं देससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे ।
घादंति वा कसाया चउसोलसअसंखलोगभिदा ॥६१॥*
हस्स-रदि-अरदि-सोयं भयं जुगुच्छा य इत्थि-पुंवेयं ।
संढं वेयं च तहा णव एदे णो कसाया य ॥६२॥
छादयदि सयं दोसे णयदो छाददि परंपि दोसेण
छादणसीला जम्हा तम्हा सो वणिणया इत्थी ॥६३॥*
पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्हि पुरुगुणं कम्मं ।
पुरुउत्तमो य जम्हा तम्हा सो वणिणयो पुरिसो ॥६४॥*
णेवित्थी णेव पुमं णपुंसओ उहयलिंगविदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥६५॥
णारयतिरियणरामरआउमिदि चउभेयं हवे आऊ ।
णामं बादालीसं पिंडापिंडप्पभेयेण ॥६६॥
णारयतिरियमाणुसदेवगइत्ति य हवे गई चदुधा ।
इगिवितिचउपंचक्खा जाई पंचप्पयारेहिं ॥६७॥
ओरालियवेगुव्वियआहारय तेजकम्मणसरीरं ।
इदि पंच सरीरा खलु ताण वियप्पं वियाणाहि ॥६८॥

कर्मकाण्डकी २७वें नम्बरकी गाथाके बाद कर्मप्रकृतिमें चार गाथाएँ और हैं, जिनमें बंधन-संघात-संस्थान और अंगोपाँगके भेदोंका उल्लेख है। और जिनसे वह त्रुटि दूर हो जाती है जिसका उल्लेख ऊपर नं० ४ में किया गया है। वे चारों गाथाएं इस प्रकार हैं:—

पंच य सरीरबंधणणामं ओरालं तह य वेउव्वं ।
आहारतेजकम्मणसरीरबंधणा सुणाममिदं ॥७०॥
पंच संघादणामं औरालियं तहय जाण वेउव्वं ।
आहारतेजकम्मण सरीरसंघादणाम मिदि ॥७१॥
समचउरणिग्गोहं सादीकुज्जं च वामणं हुंडं ।
संठाणं छब्भेयं इदि णिद्दिट्ठं जिणागमे जाण ॥७२॥
ओरालियवेगुव्वियआहारयअंगुवंगमिदिभणिदं ।
अंगोवंगं तिविहं परमागमकुसलसाहूहिं ॥७३॥

कर्मकाण्डकी २८ वीं गाथाके बाद कर्म प्रकृतिमें आठ गाथाएँ और हैं, जिनमें विहायोगति नाम कर्मके दो भेदोंका और छह संहननोंके नाम तथा उनके स्वरूपका पृथक पृथक रूपसे निर्देश किया गया है। इसलिये जिनके अनन्तर उक्त-काण्डकी २९, ३०, ३१ नं० की ३ गाथाओंको रखनेसे उनका कथन पूर्णरूपसे संगत हो जाता है और फिर उन गाथाओंके क्षेपक होनेकी भी कोई कल्पना नहीं की जा सकती, और न वे क्षेपक कही जा सकती हैं। वे आठों गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

दुविहं विहायणामं पसत्थअपसत्थगमण इदि णियमा।
वज्जरिसहणारायं वज्जणाराय-णारायं ॥७५॥
तह अद्धनारायं कीलियसंपत्तपुव्वसेवट्टं ।
इदि संहडणं छव्विह मणाइणिहणारिसे भणियं ॥७६॥
जस्स कम्मस्स उदये वज्जमयं अट्ठीरिसहणारायं ।
तस्संहडणं भणिदं वज्जरिसहणारायणाममिदि ॥७७॥
जस्सुदये वज्जमयं अट्ठीणारायमेव सामण्णं ।
रिसहो तस्संहडणं णामेण य वज्जणारयं ॥७८॥
जस्सुदये वज्जमया हड्डाओ वज्जरहियणारायं ।
रिसहो तं भणियव्वं णारायसरीरसंहडणं ॥७९॥
वज्जविसेसेण रहिदा अट्ठीओ अद्धविद्धणारायं ।
जस्सुदये तं भणियं णामेण तं अद्धणारायं ॥८०॥
जस्स कम्मस्स उदए अवज्जहड्डायिखीलिया आइं ।
दिढबंधाणि हवंति हु खीलिय णाम संहडणं ॥८१॥
जस्स कम्मस्स उदए अण्णोण्णमसंपत्तहड्डसंधीओ ।
णरसिर बंधाणिहवे तं खु असंपत्तसेवट्टं ॥८२॥

कर्मकाण्डकी ३१वीं गाथाके बाद कर्मप्रकृतिमें चार गाथाएँ और हैं, जिनमेंसे पहलीमें उन नरक भूमियोंके नाम देकर जिनके संहनन-विषयका कथन ३१वीं गाथामें किया गया है, शेषमें संहनन-विषयक कुछ विशेष वर्णन किया है—अर्थात् गुणस्थानोंकी दृष्टिसे संहननोंका सामान्यरूपसे विधान करते हुए यह बतलाया है कि मिथ्यात्वादि सात गुणस्थानोंमें छहों, अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानोंमें प्रथम तीन संहनन और क्षपकश्रेणी के पाँच गुणस्थानोंमें पहला एक वज्रवृषभनाराच संहनन ही होता है। विकल चतुष्कमें—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंमें—असंप्राप्तासृपाटिका नामका छठा संहनन बताया है, असंख्यात वर्षकी आयुवाले देवकुरु-उत्तरकुरु आदि भोगभूमिया जीवोंमें प्रथम वज्रवृषभनाराच नामके संहननका विधान किया है और चतुर्थ, पंचम तथा छट्ठे कालमें क्रमसे छह, अंतके तीन और आखीरके एक संहननका होना बतलाया है। इसी तरह सर्व विदेहक्षेत्रों, विद्याधरक्षेत्रों, म्लेच्छ खण्डोंके मनुष्य-तिर्यंचों और नागेन्द्र पर्वतसे आगेके तिर्यंचोंमें छहों संहननके होनेका विधान किया है। इस सब कथनके बाद उक्त काण्डकी ३२ नं० की गाथा आती है, जिसमें कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन संहननोंका कथन किया गया है और यह स्पष्ट लिखा है कि उनके आदिके तीन संहनन नहीं होते। और

इसलिये उसे किसी तरह भी प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता, जिसे प्रक्षिप्त ठहराकर सेठीजीने अपने स्त्रीमुक्ति विषयकी पुष्टि करनी चाही थी। ३१ वीं और ३२ वीं गाथाओंके मध्यमें इस सब कथन वाली गाथाओंके जुड़नेसे संहनन विषयक वर्णन का वह सब अधूरापन और लंडूरापन दूर हो जाता है जिसका ऊपर नं० ५ में उल्लेख किया गया है। उक्त चारों गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

घम्मा वंसा मेघा अंजणरिट्ठा तहेव अणवज्जा।
छट्ठी मघवी पुढवी सत्तमिया माघवी णामा ॥८६॥
मिच्छाऽपुव्वदुगा(खवा ?)दिसु सगचदुपणठाणगेसु णियमेण।
पढमादियाणि छत्तिणि ओघेण विसेसदो णेया ॥८७॥
वियलचउक्के छट्ठं, पढमं तु असंखआउजीवेसु।
चउत्थे पंचमछट्ठे कमसो छत्तिगेक्क संहडणा ॥८८॥
सव्वविदेहेसु तहा विज्जाहरम्लेच्छमणुयतिरिएसु।
छस्संहडणा भणिया णागिंदपरदो य तिरिएसु ॥८९॥

कर्मकाण्डकी ३२ वीं गाथाके बाद कर्म प्रकृति में ५ गाथाएँ और हैं जिनमें नामकर्मकी १४ पिण्ड प्रकृतियोंमेंसे अवशिष्ट वर्ण, रस, स्पर्श, और आनुपूर्वी नामकी प्रकृतियोंका कथन करके पिण्ड-प्रकृतियोंके कथनको समाप्त किया गया है, और साथ ही २८ अपिण्डप्रकृतियोंके कथनकी प्रतिज्ञा करके उनमेंसे आदिकी अगुरुलघु आदि ६ प्रकृतियोंका उल्लेख किया है। जिनमें आताप और उद्योत नामकी वे प्रकृतियाँ भी शामिल हैं जिनके उदयका नियम कर्मकाण्डकी ३३ वीं गाथामें बतलाया गया है। और जिनके बिना ३३ वीं गाथाका कथन असंगत जान पड़ता है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

पंचय वण्णरसेदं पीदहरिदारुणकिण्हवण्णमिदि।
गंधं दुविहं णेयं सुगंधदुग्गंधमिदि जाण ॥९१॥
तित्तं कडुवकसायं अंबिलमहुरमिदि पंचरसणामं।
मउगं कक्कस गुरुलहु सीदुण्हं णिद्धरुक्खमिदि ॥९२।
फासं अट्ठ वियप्पं चत्तारिआणुपुव्वि अणुकम
णिरयाणु तिरियाणु णराणुदेवाणुपुव्वुत्ति ॥९३॥
एदा चोद्दस पिंडप्पयडीओ वण्णिदा समासेण।
यतो (?) अपिंडप्पयडीओ अडवीसं वण्णयिस्सामि ॥९४
अगुरुलहुगं उवघादं परघादं च जाण उस्सासं।
आदावं उज्जोवं छप्पयडी अगुरुलघुकमिदि ॥९५॥

कर्मकाण्डकी ३३वीं गाथाके बाद कर्मप्रकृतिमें छह गाथाएँ और हैं, जिनमेंसे प्रथम दो गाथाओं में नामकर्मकी अवशिष्ट २२ अपिंड प्रकृतियोंके नाम गिनाए हैं। दूसरी दो गाथाओंमें नामकर्मकी उन्हीं अपिण्ड प्रकृतियोंका शुभ-अशुभ रूपसे विभाजन किया है—जिनमेंसे त्रस १२ और स्थावर प्रकृतियाँ १० हैं। और शेष दो गाथाओंमें नाम कर्मकी ९३ प्रकृतियोंके कथनकी समाप्तिको सूचित करते हुए क्रमप्राप्त गोत्र और अन्तराय कर्मकी प्रकृतियोंको बतलाकर कर्मोंकी सब उत्तर प्रकृतियाँ इस प्रकारसे १४८ होती हैं ऐसा निर्देश किया है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

तसथावरं च बादर सुहुमं पज्जत्त तह अपज्जत्तं।
पत्तेय सरीरं पुण साहारणसरीरं थिरं अथिरं ॥९७॥
सुह-असुह-सुहग-दुब्भग-सुस्सर-दुस्सर तहेव णायव्वा।
आदिज्जमणादिज्जं जसअजसकित्तिणिमिणतित्थयरं।
तसबादरपज्जत्तं पत्तेयसरीरथिरं सुहं सुहगं।
सुस्सरआदिज्जं पुण जसकित्तिणिमिणतित्थयरं ॥९९॥
थावरसुहुमअपज्जत्तं साहारणसरीरं अथिर भणियं।
असुहं दुब्भगदुस्सरणादिज्जं अजसकित्तित्ति ॥१००॥

इदि णामप्पयडीओ तेणवदी उच्च णीच मिदि दुविहं ।
गोदं कम्मं भणिदं पंचविहं अंतरायं तु ॥१०१॥
तह दाण लाह भोगोवभोग वीरिय अंतराय विएणेयं ।
इदि सव्वुत्तरपयडीओ अडदालसयप्पमा हुंति ॥१०२

इन गाथाओंके बाद १९ गाथाएँ (१०३ से १२० नम्बर की) वे ही हैं जो कर्मकाण्डमें ३४ से ५१ नम्बर तक दर्ज हैं। शेष ३९ गाथाओंमेंसे ३२ गाथाएँ (नं० १२१ से १५२) कर्म काँडके दूसरे अधिकारमें और दो गाथाएँ (नं० १५८,१५९) छठे अधिकारमें पाई जाती हैं। बाकीकी पाँच गाथाएँ जो 'कर्मकांडमें नहीं पाई जातीं और उसके छठे अधिकारमें गाथा नं० ८०८ के बाद त्रुटि न जान पड़ती हैं वे इस प्रकार हैं:—

दंसणविसुद्धिविणयं संपण्णत्तं तहेव सीलवदे ।
सणदीचारो त्ति फुडं णाणवजोगं व संवेगो ॥१२३॥
सत्तीदो चागतवा साहुसमाही तहेव णायव्वा ।
विज्जावच्चं किरियं अरिहंतायरियबहुसुदे भत्ती ॥१२४॥
पवयणपरमाभत्ती आवस्सयकिरिय अपरिहाणी य ।
मग्गप्पहावणं खलु पवयणवच्छल्लमिदि जाणे ॥१२५॥
एदेहिं पसत्थेहिं सोलसभावेहिं केवलीमूले ।
तित्थयरणामकम्मं बंधदि सो कम्मभूमिजो मणुसो ॥१२६
तित्थयरसत्तकम्मं तदियभवे तब्भवे हु सिज्झदियं ।
खाइयसम्मत्तो पुण उक्कस्सेण दु चउत्थभवे ॥१२७॥

इन गाथाओंमें तीर्थंकर नामकर्मकी हेतुभूत षोडशकारण भावनाओंके नाम दिये हैं, और यह बताया है कि इन प्रशस्त भावनाओंके द्वारा केवलीके पादमूलमें कर्मभूमिका मनुष्य तीर्थंकर-प्रकृतिका बंध करता है। साथ ही, यह भी बताया गया है कि तीर्थंकर नामकर्मकी सत्तावाला जीव तृतीय भवमें अथवा उसी भवमें मुक्तिको प्राप्त करता है और क्षायिक सम्यक्त्व वाला जीव उत्कृष्टरूपसे चतुर्थभवमें मुक्त होजाता है।

उपसंहार

ऊपरके इस संपूर्ण विवेचन और स्पष्टीकरण परसे सहृदय पाठकोंको जहाँ यह स्पष्ट बोध होता है कि गोम्मटसारका उपलब्ध कर्मकाण्ड कितना अधूरा और त्रुटियोंसे परिपूर्ण है, । वहाँ उन्हें यह भी मालूम हो जाता है कि त्रुटियोंको सहज ही में दूर किया जा सकता है—अर्थात् उक्त ७५ गाथाओंको, जो कि स्वयं नेमिचन्द्राचार्यकी कृति रूपसे अन्यत्र (कर्मप्रकृतिमें) पाई जाती हैं और जो संभवतः किसी समय कर्मकाण्डसे छूट गईं अथवा जुदा पड़ गई हैं उन्हें, फिरसे कर्मकाण्डमें यथा स्थान जोड़ देनेसे उसे पूर्ण सुससंगत और सुसम्बद्ध बनाया जा सकता है। आशा है विद्वान् लोग इस अनुसंधान एवं खोज परसे समुचित लाभ उठाएँगे। और जो सज्जन कर्म-काण्डको फिरसे प्रकाशित करना चाहें वे उसमें उक्त ७५ गाथाओंको यथास्थान शामिल करके उसे उसके पूर्ण संगत और सुसम्बद्ध रूपमें ही प्रकाशित करना श्रेयस्कर समझेंगे साथ ही जिन्हें इस विषयमें अनुकूल या प्रतिकूल रूपसे कुछ भी विशेष कहना हो वे अपने उन विचारोंको शीघ्र ही प्रकट करने की कृपा करेंगे।

ता०२७-६-१९४० वीरसेवामन्दिर, सरसावा

धर्म बहुत दुर्लभ है

[ले० श्री जयभगवान जैन बी. ए., एलएल. बी. वकील]

यह जीवन दुःखी है:—

जिधर देखो, जीवन दुःखी है। यह समस्त जीवन, जो चार महाभूतों-द्वारा आकाशको घेरकर शरीरवाला बना है, रूप-संज्ञा-कर्मवाला बना है, जो इन्द्रियोंसे देखनेमें आता है, बुद्धिसे जाननेमें आता है, दुःखी है।

क्यों ?

इसलिये कि इसमें लगातार परिवर्तन है, लगातार अस्थिरता है, लगातार अनित्यता है, लगातार इष्टताका वियोग है।

इसलिये कि इसका आदि भोलीभाली बाल्य-लीला में होता है, मध्य मदमस्त जवानीमें होता है, उत्कर्ष चिन्तायुक्त बुढ़ापेमें होता है और अन्त निश्चेष्टकारी मृत्युमें होता है।

इसलिये कि यह प्रकृति-प्रकोपसे, आकस्मिक उपद्रवोंसे सदा लाचार है। भूक-प्यास, गर्मी-सर्दी, रोग-व्याधिसे सदा व्यथित है। चिन्ता-विषाद, शोक-सन्ताप से सदा सन्तप्त है। अनिष्ट घटनाओंसे सदा त्रस्त है, नित्य नई निराशाओंसे सदा निराश है और मृत्युसे सदा कायर है।

यह जीवन दुःखी है, इसके माननेमें किसीको विवाद नहीं। यह सर्व मान्य है, सब ही के अनुभव सिद्ध है। यह आर्य सत्य है, श्रेष्ठ सत्य है।✻

✻ दीघनिकाय २२ वाँ सुत्त।

दुःखी रहना जीवनका उद्देश नहीं:—

प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकारका दुःखी जीवन जीवनका अन्तिम ध्येय है ? मरणशील जीवन ही जीवनकी पराकाष्ठा है ? क्या जीवन इसीके लिये बना है—इसीके लिये रहता है ? क्या इससे आगे ढूंढनेके लिए, इससे आगे बढ़नेके लिये जीवनमें और कुछ नहीं ?

इनका उत्तर नफ़ीमें ही देना होगा। चूँकि जहाँ यह आर्य सत्य है कि यह जीवन दुःखी है, वहाँ यह भी आर्य सत्य है कि दुःखी रहना जीवनका उद्देश्य नहीं, मरना जीवनका अन्त नहीं। जीवन इससे कहीं अधिक बड़ा है, ऊँचा है, अपूर्व है।

इस सत्यके निर्धारित करनेमें क्या प्रमाण है ? इसके लिये दो प्रमाण पर्याप्त हैं। एक स्वात्मअनुभूति दूसरा महापुरुष-अनुभूति।

स्वात्मानुभूति की साक्षी:—

अन्तरात्मा इसके लिये सबसे बड़ा साक्षी है। सबसे बड़ा प्रमाण है। वह दुःखकी सत्ताको आत्मतथ्य मान कर कभी स्वीकार नहीं करता। वह बराबर इससे लड़ता रहता है। वह बराबर इसके प्रति प्रश्न करता रहता है, शंकायें उठाता रहता है। इसीलिये वह इसकी निवृत्ति के लिये, इससे भिन्न सत्ताके लिये सदा जिज्ञासावान् बना है।

वह इसमें कभी आत्मविश्वास धारण नहीं करता। वह सदा कहता रहता है—"दुःख आत्मा नहीं, आत्म-स्वभाव नहीं, यह अनिष्ट है, अनात्म है, यह न मेरा है, न मैं इसका हूँ, न यह मैं हूँ, न मैं यह हूँ ‡।

वह इसके रहते कभी संतुष्ट नहीं होता, कभी कृत्यकृत्य नहीं होता। वह इसके रहते जीवनमें सदा किसी कमीको महसूस करता रहता है, किसी पूर्तिके लिये भविष्यकी ओर लखाता रहता है, किसी इष्टकी भावनाको भाता रहता है, इसलिये वह सदा इच्छावान् आशावान् बना है।

वह दुःखके रहते नित्य नये नये प्रयोग करता रहता है, नये नये सुधार करता रहता है, नये नये मार्ग ग्रहण करता है, इसीलिये वह सदा उद्यमशील बना है।

यह कहना ही भूल है कि जीवन इस दुःखी जीवन के लिये बना है, इस दुःखी जीवनके लिये रहता है। यह न इसके लिये बना है, न इसके लिये रहता है। यह तो उस जीवनके लिये बना है, उस जीवनके लिये टिका है जो इसकी भावनाओंमें बसा है, इसकी कामनाओंमें रहता है, जो अदृष्ट है, अज्ञेय है।

यदि जीवन इतना ही होता जितना कि यह दृष्टिगत है तो यह क्यों जिज्ञासावान् होता? क्यों प्राप्तसे अप्राप्तकी ओर, नीचेसे ऊपरकी ओर, यहाँसे वहाँकी ओर, सीमितसे विशालकी ओर, बुरेसे अच्छेकी ओर अनित्यसे नित्यकी ओर, अपूर्णसे पूर्णकी ओर बढ़नेमें संलग्न होता?

इसमें ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं कि यदि जीवन इतना ही होता, तो जीव इसे सर्वस्व मान कर विश्वास कर लेता, इसमें संतुष्ट होकर रह जाता, इसमें कृत्कृत्य हो अपना अन्त कर लेता। परन्तु यह जीवन इतना नहीं, यह भव्य भावनाओंके सहारे, भावी आशाओंके सहारे, अदृष्ट इष्टके सहारे बराबर चला जा रहा है, बराबर जिन्दा है।

महापुरुषोंकी साक्षीः—

यदि यह जानना हो कि वह अदृष्ट इष्ट कौनसा है, उसका स्वरूप कैसा है, वह कहाँ रहता है, उसे पानेका क्या मार्ग है, तो इसके लिये अन्तरात्माको टटोलना होगा। यदि अन्तरात्माको टटोलना कष्टसाध्य दिखाई दे तो उन महापुरुषोंके अनुभवोंको अध्ययन करना होगा जिन्होंने तमावरणको फाड़कर अन्तरात्माको टटोला है, जिन्होंने तृष्णाके उमड़ते प्रवाहको रोक कर अपना समस्त जीवन सत्य-दर्शनमें लगाया है, जिन्होंने भयरहित हो आत्माको मन्थनी, दुःखोंको पेय चिन्तवनको बलोनी बनाकर संसार सागरको मथा है, जिन्होंने मायाप्रपञ्चको फाँदकर सत्यकी गहराईमें गोता लगाया है, जिन्होंने रागद्वेषको मिटाकर मौत और अमृतको अपने वश किया है, जिन्होंने शुद्ध-बुद्ध हो दिव्यताका सन्देश दिया है, जो परम पुरुष, दिव्यदूत, देव, भगवान् अर्हंत, तीर्थंकर, सिद्ध आप्त आदि नामों से विख्यात् हैं, जो संसारके पूजनीय हैं। इस क्षेत्रमें इन्हींका वचन प्रमाण है *।

---

‡ संयुक्तनिकाय २१. २.

* (अ) आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा।

—न्यायदर्शन-वात्स्यायन टीका १-१-७

(आ) येनाप्तं परमैश्वर्यं परानंदसुखास्पदं।
बोधरूपं कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः॥

—आप्तस्वरूप ॥२३॥

इन्हें छोड़कर साधारण जनसे इस तथ्यका पता पूछना ऐसा ही है जैसा कि अन्धेसे मार्गका पता पूछना। वह अण्डेमें बन्द शावकके समान अन्धकारसे व्याप्त हैं। वे स्वयं प्रकाशके इच्छुक हैं। उन्होंने अन्तरात्माको अभी नहीं देख पाया है। उनका वचन इस क्षेत्रमें प्रमाण नहीं हो सकता।

ये सब ही आप्त जन एक स्वरसे उच्चारण करते हैं कि जीवनका इष्ट इस जीवनसे बहुत ऊँचा है, बहुत महान् है, बहुत सुन्दर है, बहुत आनन्दमय है। वह इष्ट सुखस्वरूप है, सुख पूर्णतामें है, पूर्णता आत्मामें है*, अतः आत्मा ही इष्ट है आत्मा ही प्रिय है, आत्मा ही देखने, जानने और आसक्त होने योग्य है‡।

ये सब ही आश्वासन दिलाते हैं कि जीवन और जीवनका इष्ट दो नहीं, दूर नहीं, भिन्न नहीं, एक ही है। दोनों एक ही स्थानमें रहते हैं। केवल अन्तर अवस्था का है—इनमेंसे एक भोक्ता है, दूसरा केवल ज्ञाता है। एक कर्मशील है दूसरा कृतकृत्य है। जब आत्मा इस अवस्थाकी महिमाको देख पाता है तो वह स्वयं महान् हो जाता है †।

ये सब ही आशा बंधाते हैं, कि इष्ट-सिद्धिका मार्ग भी स्वयं आत्मामें छुपा है। आत्मा स्वयं भाव है, स्वयं भावना है, स्वयं मार्ग है *।

इस मार्गका नाम सत्य है, चूंकि यह मर्त्यको अमृतसे मिला देता है ‡। इसका नाम धर्म है चूंकि यह जीवनको संसार दुःखसे उभार कर सुखमें धर देता है §। यह नीचेसे उठाकर सर्वोच्चपदमें बिठा देता है †। यह असम्भव चीज नहीं, प्रत्येक हितैषी इसका साक्षात् कर सकता है। आओ और स्वयं देखलो ‡।

ये सब ही प्रेरणा करते हैं "उठो, जागो, प्रमादको त्यागो, सचेत बनो, सत्संगति करो, सत्यको पहिचानो, धर्मका आचरण करो *।" देर करनेका समय नहीं;

(इ) स देवो यो अर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च।
स ददाति यस्य अस्ति तु अर्थः कर्म च प्रव्रज्याः॥
—बोधप्राभृत (संस्कृतछाया) २४

* "यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैवसुखम्"
—छा० उप० ७-२३-१

‡ न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः॥"
—बृह० उप०२.४.५.

† (अ) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।"
—ऋग्वेद १.१६४.२० = मुण्डक उप०३-१-१-२
—श्वेताश्वतर उप०४-६-७

(आ) "I and my fother are one."
—Bible-St. John. 10.30

* (अ) तत्वानुशासन॥३२॥

(आ) "I am the way, the truth and the life"
—Bible-St. John. 14.6.

‡ छा० उप० ८-३-५.

§ (अ) "संसारदुःखतःसत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।"
—रत्नकरण्डश्रावका०॥८॥

(अ) तामिल वेद—प्रस्तावना ४.१

† पञ्चाध्यायी २-७१५

‡ अंगुत्तरनिकाय ३-५२

* (अ) उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत"
—कठ० उप० ३.१४

(आ) धम्मपद॥१६८॥

शंका समाधानका समय नहीं, मौत मुँह फाड़े खड़ी है, इससे पहले कि रोग शरीरको निकम्मा करे, बुढ़ापा शक्तियोंको जीर्ण करे, तुम अपने आपको धर्मसाधनामें लगादो †। जो आत्माको जाने बिना, मौतको जीते बिना इस भव से विदा हो जाता है वह सदा यमका अतिथि बना रहता है ‡।

इस परिवर्तनशील जगमें एक ही चीज़ अविचल है, वह धर्म है। उसीकी शरण जाओ❀। सल्लक्ष्य इस का शिर है, सद्ज्ञान इसका नेत्र है और सदाचार इस के पग हैं, इन तीनोंकी एकतासे ही इसकी सत्ता सुदृढ़ बनी है। यह सदा लक्ष्यको दृष्टिमें गाड़कर, सद्ज्ञानसे हेय उपादेयका विवेक करता हुआ उस पार चला जाता है। यह नाश होने वाली चीज़ नहीं, यह नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत् है। इस पर चलकर ही पूर्वमें मनुष्योंने सिद्धिका लाभ किया है। इस पर चलकर मनुष्य भविष्यमें सिद्धिका लाभ करेंगे *।

ये सब ही अचलपद पर खड़े हुये अपने आदर्श-द्वारा शिक्षा देते हैं, "यदि इष्ट जीवनकी कामना है, उसके उत्कृष्ट स्वरूपको जानना है, उसके मार्गको समझना है तो हमारी ओर देखो, जो हमारा जीवन है, वही इष्ट जीवन है, जो हमारा पद है, वही उत्कृष्ट पद है, जो हमारा मार्ग है, वही सिद्धीका मार्ग है, जो हम पर विश्वास लाता है, हमारे बतलाये हुये तत्त्वोंको ठीक समझता है, हमारे चले हुए मार्ग पर चलता है, वह पुनः अन्धकारमें नहीं पड़ता, वह इधर उधर नहीं भटकता, वह व्यर्थ ही शक्तिका ह्रास नहीं करता। वह हमारे समान श्रद्धावान, प्रज्ञावान, कार्यकुशल हो जाता है, परम सुखी होजाता है। वह फिर जन्ममरणमें नहीं पड़ता ‡।

धर्म मार्ग ग्रहण करनेकी कठिनता:—

परन्तु कितने हैं जो इस धर्म-मार्गको जानते हैं? कितने हैं जो इसे जाननेकी सामर्थ्य रखते हैं? कितने

† उत्तराध्ययन ४-६, मज्झिमनिकाय ६३वाँ सुत्त

‡ बृह० उप० ४.४.१४; केन उप०२.५.

❀ उत्तराध्ययन् २३, ६८-४४; सूत्रकृताङ्ग १.८.५,६.

* निर्ग्रन्थप्रवचन ३.१४; मज्झिमनिकाय—५१वाँ सुत्त

‡ (अ) मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम् ॥
—गीता ९.३२.

(आ) गीता १८-६६

(इ) मुण्डक० उप० ३.२.३.

(ई) तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा ।
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥"
—भक्तामर ॥१०॥

(उ) I am the light of the world, he that followeth me shall not walk in darkness, but shall have the light of life."
—Bible-St. John 8-12

(ऊ) "He that hearth my word, and believeth on him that sent me hath everlasting life and shall not come into condemnation but is passed from death unto life,"
Bible-St. John 5-24

(ए) "And whosoever liveth and believeth in me shall never die,"
—Bible-St. John. 11-26

(ऐ) "If ye had known me, ye should have known my Father also...he that hath seen me hath seen the Father.... Believe me that I am in the Father and the Father in me. Verily verily I say unto you, he that believeth on me, the works that I do, shall he do also"
—Bible-St. John. Chapter 14.

हैं जो इसे जाननेकी कोशिश करते हैं ? कितने हैं जो जानकर इसपर श्रद्धा लाते हैं ? कितने हैं जो श्रद्धा लाकर इस पर चलते हैं ? कितने हैं जो चलकर इष्टका साक्षात् करते हैं, मनोरथमें सफल होते हैं, दुःख के विजेता होते हैं ?

बहुत विरले, कुछ गिने चुने मनुष्य—जो जीवन-लोकके उत्तङ्ग शिखर कहला सकते हैं। शेष समस्त जीवन-लोक पहाड़ी घाटियोंके समान अन्धकारसे व्याप्त हैं, पहाड़ी नदियोंके समान शीघ्रतासे संसार-सागरकी ओर चला जा रहा है।

यह क्यों ? क्या शेष जीवन-लोक दुःखका अनुभव नहीं करता ? दुःखसे छुटकारा नहीं चाहता ? शेष जीवन-लोक दुःखका अनुभव ज़रूर करता है, दुःखसे छुटकारा भी चाहता है। परन्तु वह दुःखसे अपना उद्धार करनेमें असमर्थ है। मनुष्यको छोड़कर समस्त प्राणियोंका जीवन-समस्त एकेन्द्रियलोक समस्त वनस्पति लोक, समस्त विकलेन्द्रिय लोक, समस्त पशुपक्षिलोक गाढ़ अन्धकारसे ढका है, मोहसे व्याप्त है, भय और दुःखसे ग्रस्त है। इन पर भयने, दुःखने इतना काबू पाया है कि यह भय और भयके कारणोंकी ओर, दुःख और दुःखके कारणोंकी ओर लखानेसे भी भयभीत हैं। इसीलिये यह उनकी ओरसे मुँह फेर कर रह गये हैं, आँख मूँदकर रह गये हैं, ज्ञान रोक कर रह गये हैं। इसीलिये इनकी ज्ञानशक्ति, देखने भाननेकी शक्ति, स्मरण रखनेकी शक्ति, कल्पना करनेकी शक्ति, सब ही आच्छादित होगई हैं, खोईसी हो गई है। इन्होंने दुःख को ओझल करनेकी चेष्टामें ज्ञानको ही ओझल कर दिया है, समस्त जानने वाली चीज़ोंको ही ओझल कर दिया है, समस्त लोक और आत्माको ही ओझल कर दिया है। ये यन्त्रकी भाँति अभ्यस्त संस्कारों, संज्ञाओं के सहारे ही अपनी जीवन-नौकाको चलाते हुए आगे चले जारहे हैं। इन्होंने दुःखकी समस्या समझने, सुख का रहस्य मालूम करने, वर्तमान दशासे दूर लखाने, वर्तमान जीवनसे भिन्न जीवनको लक्ष्य करने, रूढिक मार्गको छोड़ अन्य मार्गको अपनानेकी शक्तिका ही लोप कर दिया है ‡। इन्हें धर्मतत्त्वको समझने, धर्मतत्त्वमें श्रद्धा लाने, धर्म-मार्ग पर आरूढ़ होनेका सामर्थ्य ही प्राप्त नहीं है। मनुष्य-जीवन ही ऐसा जीवन है, जिसमें दुःखानुभूतिके साथ दुःखसुखके रहस्यको समझने, उनके कारणोंको मालूम करने, एक लक्ष्यको छोड़ दूसरेको लक्ष्य बनाने एक मार्गको त्याग दूसरेको ग्रहण करनेकी ताकत मौजूद है। मनुष्य जीवन ही हेयोपादेय बुद्धि, तर्क वितर्क-शक्ति उद्यम पुरुषार्थका क्षेत्र है †। मनुष्यभवमें ही धर्म-साधना सम्भव है ॐ।

जब मनुष्य-भवमें धर्मसाधना सम्भव है, तो मनुष्य-में धर्म-साधना क्यों नहीं ? मनुष्यका जीवन सुखी क्यों नहीं ? सफल क्यों नहीं ? कृतार्थ क्यों नहीं ? मनुष्य-जीवनमें भी इतना संक्लेश क्यों ? इतनी दुःख पीड़ा, क्यों ? इतना भेद भाव क्यों ? इतना संघर्ष क्यों ?

निस्सन्देह मनुष्य-भवमें ही धर्मसाधना सम्भव है परन्तु समस्त मनुष्य धर्म साधनाके योग्य नहीं, धर्मके अधिकारी नहीं। इनमें से बहुतसे तो नाममात्रके ही मनुष्य हैं। आकृतिको छोड़कर वे शील शक्ति, आचार व्यवहारमें पशु समान ही हैं, पशु समान ही बुद्धिहीन हैं, ज्ञानहीन हैं, जड़ और मूढ़ हैं। उनके ही समान स्व-च्छन्द और अनर्गल गतिसे चलने वाले हैं। उन्हें दीन

‡ पञ्चास्तिकाय ॥३९॥

† कार्तिकेयानुप्रेक्षा ॥२९९॥ गोम्मटसार (जीवकांड ६९८)

ॐ प्रश्न० उप० ९.३.

और दुनियाका कुछ पता नहीं, भूत और भविष्यका कुछ पता नहीं, उनके लिए वर्तमान क्षण ही काल है, वर्तमान जीवन ही जीवन है।

बहुतसे पशु-समान तो नहीं हैं, परन्तु दुर्बुद्धि हैं, आलसी और शक्तिहीन हैं। वे पशुसमान अचेत जीवन को, पुरुषार्थहीन जीवनको सुखी मानते हैं। वे जान बूझ कर पशु-समान अज्ञानमार्गके अनुयायी बने हैं। वे निद्रा-तन्द्रामें पड़े हुए, सुरापानमें झूमते हुए, नशैली वस्तुओंके नशेमें ऊँघते हुए, दुःखको भुलानेमें लगे हैं।

बहुतसे विचारवान् हैं, रसिक और भावुक हैं, परन्तु शक्तिहीन हैं, वे बिना पुरुषार्थ आनन्द भोगी होना चाहते हैं; वे भोगमार्गके अनुयायी बने हैं। वे विषयवासनामें सने हुए, संगीत-सुरासुन्दरीमें रमे हुए, सुख-आस्वादनमें लगे हैं, दुःख-कारणोंको बहकानेमें लगे हैं।

बहुतसे कुशाग्र बुद्धि हैं, बड़े पुरुषार्थी और उद्यमी हैं; व्यवहार-कुशल और कर्मयोगी हैं; परन्तु बाह्यमुखी हैं, अपनेसे बाहिर सुख ढूंडने वाले हैं, प्रपञ्चमें विश्वास रखने वाले हैं, ये लोकको विजय करनेमें लगे हैं। विभिन्न वस्तुओंके जमा करनेमें लगे हैं। ये धन-धान्य कञ्चन-पाषाण, ज़र-ज़मीन, महलमाड़ी बटोरने में लगे हैं। ये स्वार्थसिद्धिमें विश्वास करने वाले हैं, ये सिद्धि-मार्गकी शिष्टता-अशिष्टतामें विश्वास करने वाले नहीं। इसीलिए ये आपसमें लड़ते-भिड़ते, कटते-मरते, लूटते-खसोटते यथा तथा आगे बढ़ रहे हैं। ये व्यवहार मार्ग के अनुयायी हैं, उद्योग-मार्गके अनुयायी हैं। ये परिग्रह-द्वारा अपूर्णताका अन्त करना चाहते हैं, व्यवसाय-द्वारा दुःखका अभाव करना चाहते हैं। ये 'शठं प्रति शाठ्यं' के अनुयायी हैं। वैर संशोधन द्वारा वैरका उच्छेद करना चाहते हैं, भव-उत्पत्ति द्वारा भयको निर्मूल करना चाहते हैं।

बहुतसे सात्विक बुद्धि हैं, सरल हृदय हैं, नम्रभाव हैं, वे अपने सुख-दुखका विधाता अपनेसे बाहिर, अपने से भिन्न, अपनेसे दूर मानते हैं। वे उस सत्ताको समस्त शक्ति, समस्त ज्ञान, समस्त सुख, समस्त पूर्णताका भण्डार जानते हैं। वे उसकी भक्ति उपासनासे, प्रार्थना याचनासे दुखका अभाव, सुखका लाभ होना समझते हैं। ये याज्ञिक मार्गके अनुयायी हैं। ये अपनेको धर्मको जानने वाला, धर्म पर चलने वाला मानते हैं। परन्तु ये धर्म जानते हुए भी धर्म नहीं जानते, धर्म मानते हुए भी धर्म नहीं मानते, धर्म पर चलते हुए भी धर्म पर नहीं चलते। ये सब मिथ्यात्वसे पकड़े हुए हैं। मोह मायासे ठगे हुए हैं।

ये वृक्ष-वनस्पतिमें, पशु-पक्षियोंमें, हवा पानीमें, नदी पर्वतोंमें, वनखण्ड-देशभूमिमें, चान्दसूरजमें, ग्रह-नक्षत्रमें, आकाश-कालमें, प्रकृति-विभूतिमें, परम शक्तिवान देवताका दर्शन करते हैं। ये विशेष दिशाको दिव्य दिशा, विशेष देशको दिव्य देश, विशेष कालको दिव्यकाल, विशेष रूपको दिव्यरूप मानते हैं। ये विशेष भाषाको दिव्य भाषा, विशेष वाक्यको दिव्य-वाक्य, विशेष वाक्य-संग्रहको दिव्य शास्त्र समझते हैं। ये विशेष जाति वाले, विशेष कर्मचारी, विशेष रूपधारी को गुरु ग्रहण करते हैं। ये विशेष प्रकारका रूप धारण करना, विशेष भाषा बोलना, विशेष वाक्यका जप करना, विशेष विधि अनुसार विशेष २ कर्म करना धर्म मानते हैं। इनमें भला देवता कहाँ? दिव्यता कहाँ? धर्म कहाँ?

ये सब अपनेसे बाहिर, अपनेसे भिन्न तत्त्वके भक्त बने हैं, ये सब नाम, रूप, कर्मके उपासक बने हैं। ये

देश-काल परिमित सत्ताके सेवक बने हैं। वे सब धर्मके लोभमें धर्माभासके पीछे चलने वाले हैं, जलके लोभमें मरीचिकाके पीछे दौड़ने वाले हैं, अमृतके लोभमें संसार-वनमें घूमने वाले हैं *। ये सब धर्म हीन हैं।

इसका क्या कारण है? जब सब ही जीव सुखके अभिलाषी हैं, सब ही सुखके लिए प्रयत्नशील हैं, तो वे सुख मार्ग पर क्यों नहीं चलते? उनकी दृष्टि धर्मकी ओर क्यों नहीं जाती? वे धर्मका आचरण क्यों नहीं करते? क्यों यह धर्म एक ढकोसला है? भ्रम है? दिल बहलानेकी वस्तु है? केवल एक शुभ कामना है?

धर्म वास्तविक है:—

नहीं, धर्म ढकोसला नहीं, भ्रम नहीं, बहलानेकी चीज़ नहीं, यह वास्तविक है। यह इतना ही वास्तविक है जितना कि सुख और सुखकी भावना, पूर्णता और पूर्णताकी भावना, अमृत और अमृतकी भावना। यदि सुख और सुखकी भावना वास्तविक हैं तो सुखका मार्ग वास्तविक क्यों नहीं? कोई भावना ऐसी नहीं, जिसका भाव न हो, कोई भाव ऐसा नहीं, जिसकी सिद्धी का मार्ग न हो। जहाँ भावना रहती है, वहीं उसका भाव रहता है, जहाँ भाव रहता है वहीं उसका मार्ग रहता है। सुखकी भावना, पूर्णताकी भावना, अमृतकी भावना आत्मामें बसी हैं। इसलिये सुखमयी तत्त्व, पूर्णतामयी तत्त्व, अमृतमयी तत्त्व भी आत्मामें रहता है। आत्मामें ही उसकी सिद्धीका मार्ग छुपा है। परन्तु इस तत्वको समझने, इस मार्गको ग्रहण करनेमें दो कठिनाइयाँ हैं—१. धर्म तत्वकी सूक्ष्मता २. जीवन की विमूढता।

* भावप्राभृत ॥११०॥

धर्म तत्त्वकी सूक्ष्मता:—

यह धर्म-तत्व यद्यपि बहुत सीधा और सरल है, बहुत निकट और स्वाश्रित है। यह ऐसा ही सीधा है जैसे दीप-शिखा, ऐसा ही सरल है जैसे दीप-प्रकाश, ऐसा ही निकट है जैसे दूधमें घी, ऐसा ही स्वाश्रित है जैसे शरीरमें स्वास्थ्य। यद्यपि यह सर्वप्राप्य है, सकल भेद भाव-रहित प्राणिमात्रमें मौजूद है। यद्यपि इसीके सहारे समस्त जीवनका विकास नीचेसे ऊपरकी ओर हो रहा है—शारीरिक जीवनसे सामाजिक जीवनकी ओर, सामाजिकसे आर्थिककी ओर, आर्थिकसे मानसिककी ओर, मानसिकसे नैतिककी ओर, नैतिकसे आध्यात्मिक की ओर—परन्तु इस तत्वका जानना कठिन हो गया है, इसके जाननेका जो साधन अन्तर्ज्ञान है, वह काम में न आनेसे—अभ्यासमें न रहनेसे कुण्ठित होगया है, मलीन हो गया है, खोया सा हो गया है, और जो इसके विपरीत तत्वको देखने जाननेका साधन है, वह इन्द्रियज्ञान, बुद्धिज्ञान, नित्य प्रति अभ्यासमें लानेसे अधिक अधिक तीक्ष्ण हो गया है।

धर्मका तत्त्व कोई ऐसी बाह्य वस्तु नहीं जो इन्द्रियों से दिखाई दे, बुद्धिसे समझमें आये, हाथ पावोंसे पकड़ में आये, रुपये-पैसेसे खरीदी जाए, यह अन्तरङ्ग वस्तु है, तर्क और बुद्धिसे दूर है, हाथ और पाँवोंसे परे है। यह जीवनमें छुपा है, जीवनको विकल करनेवाली अनुभूतियोंमें छुपा है, जीवनको ऊपर उभारनेवाली भावनाओंमें छुपा है। यह अत्यन्त गहन है, यह सूक्ष्मतासे दिखाई देने वाला है, अन्तर्ज्ञानसे समझमें आनेवाला है जो अनुभवी पण्डित हैं, वेही इसे देख सकते हैं *।

* कठ० उप० ३.१२। गीता ७. २५। मज्झिमनिकाय २६वाँ सुत्त

इसीलिये अनेक विध जानने पर भी यह बतलाया नहीं जाता, अनेक प्रकार शास्त्रोंके पढ़ने और मनन करनेसे भी यह दृष्टिमें नहीं आता ‡। इसका बोध बहुत दुर्लभ है ❀।

इस धर्मके मर्मको जाने बिना, जीवन उद्देश्यको जानना, उद्देश-सिद्धिके मार्गको जानना, उत्थान उपायों को जानना, शरीर, गृहस्थ, समाज और राष्ट्र प्रति कर्तव्योंको जानना, उनके अनुसार जीवनको बनाना, नितान्त असम्भव है। जब लक्ष्यका ही पता नहीं, मंजिल का ही पता नहीं, तो मार्गका पता कैसे लग सकता है? इसीलिए जीवनमें विविध प्रसंग आ पड़ने पर बहुत बार साधारण जन ही नहीं बड़े२ बुद्धिमान भी कर्म-अकर्मके मामलेमें कर्तव्य विमूढ हो जाते हैं †। उस वक्त यह निर्णय करना कि अमुक स्थितिमें क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये बहुत मुश्किल हो जाता है।

जहाँ धर्म-तत्वको जानना दुर्लभ है, धर्म-मार्गको निश्चित करना कठिन है, वहाँ धर्मतत्व पर श्रद्धा लाना, धर्म-मार्ग पर चलना और भी मुश्किल है, धर्म का मार्ग बालाग्रसे भी अधिक नेड़ा है, क्षुर धारसे भी अधिक तीक्ष्ण है। बहुत थोड़े हैं, जो धर्मको जानते हैं बहुत ही कम हैं जो इस पर श्रद्धा लाते हैं। बहुत ही बिरले हैं जो इस पर चलते हैं *।

यह मार्ग लक्ष्यमें ज़रासी भ्रान्ति होने से, ज़रासा प्रमाद होनेसे नीचेसे निकल जाता है। इसका पथिक मोहके पैदा हो जानेसे आचारमें विषमता आजानेसे पथसे स्खलित हो जाता है।

धर्म-मार्गपर कौन चल सकता है?

जो निर्भ्रान्त है, आस्तिक बुद्धि वाला है, जीवन-लक्ष्यको सदा दृष्टिमें रखनेवाला है, जो आध्यात्मिक जीवनको साध्य और अन्य समस्त जीवनको अर्थात् शारीरिक, गृहस्थ सामाजिक, राष्ट्रिक, नैतिक जीवनको साधन मानने वाला है, जो मोक्ष पुरुषार्थको परम पुरुषार्थ और अन्य समस्त पुरुषार्थोंको सहायक पुरुषार्थ समझने वाला है। जो समदृष्टि है, सब ही 'प्राणियोंको अपने समान देखने वाला है' जो समबुद्धि है; सब ही अवस्थाओंमें एक समान रहने वाला है जो सुखके समय हर्षको और दुःखके समय विषादको प्राप्त नहीं होता वह ही धर्ममार्ग पर चल सकता है।

जो तत्व ज्ञानी है, आत्म अनात्मका भेद जानने वाला है। जो भावनामयी तत्वको आत्मा और नाम, रूप, कर्मात्मक तत्वको अनात्म मानने वाला है, जो विवेकशील है, हित अहितका विचार रखने वाला है, जिसके लिये न कुछ अच्छा है, न कुछ बुरा है। जो हित-साधक है वही अच्छा है, जो हित-बाधक है वही बुरा है। जो प्रत्येक कर्मके अच्छेपन और बुरेपनको केवल उसके अभिप्रायसे नहीं जाँचता, बल्कि उसके फल, उसके परिणामसे जाँचने वाला है। जो विशाल-

‡ मुण्डक० उप० ३.२.३

❀ "बोहि अबस्तदुल्लहं होदि" द्वादशानुप्रेक्षा ॥८३॥

† किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः"

—गीता ४.१६.

* (अ) "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथः तत कवयो वदन्ति" —कठ० उप० ३.१४.

(आ) उत्तराध्ययन सूत्र ३.२०; १०,४; १६.४.

(इ) "Because strait is the gate and narrow is the way which leadeth unto life, and few there are that find it."

—Bible-St. Matthew, 7-14.

दृष्टि है, अनेकान्ती है, प्रत्येक तत्वको, प्रत्येक घटनाको प्रत्येक पुरुषार्थको अनेक अपेक्षाओंसे देखने वाला है। अनेक अपेक्षाओंसे समझने वाला है, जो सर्वग्राहक है, जो अपनी दृष्टिको एकान्तमें डालकर संकीर्ण नहीं होने देता । जो स्वहित-परहित, व्यक्तिगत हित स्मष्टिगत हित, वर्तमान हित, भावि हित सब ही हितों की अपेक्षासे पुरुषार्थके हेय उपादेयपनका निर्णय करने वाला है, जो प्रज्ञावान है, जो साध्य और साधन, व्यवहार और निश्चयमेंसे किसीकी भी उपेक्षा नहीं करता, जो यथावश्यक अपने समय और शक्तिको सब ही पुरुषार्थोंमें बाँटने वाला है । जो सदा अपनेको स्थिति अनुरूप बनाने वाला है, वही धर्म-मार्ग पर चल सकता है।

जो निर्मोही है; नाम-रूप-धर्मात्मक जगतमें रहता हुआ भी कभी उसको अपना नहीं मानता, कभी उसका होकर नहीं रहता, जो कमल समान सदा ऊपर होकर रहता है, सदा आत्महितका विचार रखता है । जो समस्त जगत, उसके समस्त पदार्थ, समस्त सम्बन्ध, समस्त रीतिरिवाज, समस्त संस्थाप्रथा, समस्त विधि-विधान, समस्त क्रियाकर्मको व्यवहार मानता है, ऊपर उठनेका साधन मानता है, साधन मानकर उनको ग्रहण करता है, रक्षा करता है, प्रयोग करता है, यथा-वश्यक उनमें हेरफेर करने, सुधार करनेमें तत्पर रहता है, यथावश्यक सदा उन्हें त्यागने, आहुति देनेमें तय्यार रहता है, वही धर्ममार्ग पर चल सकता है ।

जो अहिंसावान है, दयावान है, सबके हितमें अपना हित मानता है, सबके उद्धारमें अपना उद्धार मानता है; जो सबका हितैषी है, सबका मित्र है, जो आप रहता है दूसरोंको रहने देता है, जो खुद स्वतन्त्र है, दूसरोंकी स्वतन्त्रताका आदर करता है, जो अपनी उन्नति करता हुआ दूसरोंकी उन्नतिको नहीं रोकता, जो अपने उठनेके साथ दूसरोंको उठाता चलता है उभारता चलता है; वही धर्म मार्ग पर चल सकता है।

जो जितेन्द्रिय है, वशी है, शान्त चित्त है, विषयों की आसक्तिसे लक्ष्यको नहीं भूलता, कषायोंकी तीव्रतासे कर्तव्यको नहीं छोड़ता, बाधाओंसे घबराकर धीरताको नहीं खोता, वही धर्म पर चल सकता है ।

जो आत्म-विश्वासी है; जो सहायता-अर्थ बाह्य देवी देवताओंकी ओर नहीं देखता, उनके प्रति याचना-प्रार्थना नहीं करता, उनके प्रति यज्ञ हवन, पूजा भक्तिमें समय नहीं खोता, जो स्वयं आत्मशक्तियोंमें भरोसा रखने वाला है, दृढ़ संकल्प शक्ति वाला है, निर्भय है, साहसी है, उद्यमी है, वही धर्म-मार्ग पर चल सकता है ।

जो सदा जागरूक और सावधान है, जो अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचारसे अपने मार्गको दूषित नहीं होने देता। जो निरहंकार है, "मैं" और "मेरे" के प्रपंचमें नहीं पड़ता; जो निष्काम है, निराकारी है, जो कोई भी काम मान, मिथ्यात्व, निदानके वशीभूत होकर नहीं करता, जो अपने कियेका फल धन-दौलत, पुत्र-कलत्र, मान-प्रतिष्ठा आदि किसी भी दुनियावी अर्थ के रूपमें नहीं चाहता, जो अपनी समस्त शक्ति, समस्त पुरुषार्थ, समस्त जीवन, ब्रह्मके लिये अर्पण करता है, समस्त विचार, समस्त वाणी, समस्त कर्म ब्रह्मके लिये होम करता है, वही धर्म-मार्ग पर चल सकता है ।

जो कर्म-कुशल है, योगी है, जो बालक-समान एक बार ही चान्दको पकड़ना नहीं चाहता, जो सहायक शक्तियोंको बढ़ाता हुआ, विपक्ष शक्तियोंको घटाता हुआ, श्रेणीबद्ध मार्गसे ऊपरको उठाता है, वही धर्म मार्ग पर चल सकता है ।

अर्थात् जो सम्यक्दृष्टि है, स्थितप्रज्ञ है, स्थिर बुद्धि है, समदर्शी है, योगी है, आस्तिक्य-प्रशम-संवेग-अनुकम्पा गुण वाला है। निशंकित आदि अष्ट अङ्ग वाला त्रिमूढता और अष्ट मद रहित है, त्रिशल्यसे खाली है, मैत्री-प्रमोद-करुणा, माध्यस्थ भावसे भरा है, अविरोध रूपसे धर्म-अर्थ-काम-पुरुषार्थोंकी सेवा करने वाला है, वही धर्म-मार्ग पर चल सकता है, वही वास्तवमें धर्मात्मा है, वही सुखका अधिकारी है।

लोक विमूढ है:—

जहाँ धर्म-तत्त्व इतना सूक्ष्म है, धर्म-मार्ग इतना कठिन है, वहाँ यह लोक अन्धा है, यहाँ देखने वाले बहुत थोड़े हैं †। यहाँ जीवन अनादिकी भूलभ्रान्तिसे ढका है, अविद्यासे पकड़ा हुआ है, मोहसे ग्रसा हुआ है, यह अपनेको भुलाकर परका बना हुआ है, अपनेको न देखकर बाहिरको देख रहा है, अपनेको न टटोलकर बाहिरको टटोल रहा है, अपनेको न पकड़ कर बाहिरको पकड़ रहा है। इसकी सारी रुचि, सारी आसक्ति, सारी शक्ति बाहिरकी ओर लगी हुई है, सारी इन्द्रियाँ बाहिर को खुली हुई हैं, सारी बुद्धि बाहिरमें धसी हुई है, सारे अवयव बाहिरको फैले हुए हैं ‡।

इसके लिये इस दिखाई देने वाले लोकसे भिन्न और लोक ही कौनसा है? इस सुख दुःख वाले जीवनसे भिन्न और जीवन ही कौनसा है? इस इन्द्रिय-ज्ञानसे भिन्न और ज्ञान ही कौनसा है? इस लोकको छोड़कर और किधर जाये? इस जीवनको छोड़कर और किधर लखाये? इस ज्ञानको छोड़कर और किसका सहारा ले? इस तरह देखता जानता हुआ यह बहिरात्मा बना है। यह नास्तिक बना है †। अपनेसे विमुख बना है ‡।

जो इस प्रकार परासक्तिमें पड़ा है, परासक्तिमें रत है, परासक्तिमें प्रसन्न है, उसके लिए दुःखको साक्षात् करना, दुःखके कारणोंको समझना, दुःख-निरोधका संकल्प करना, दुःख-निरोधके मार्ग पर लगना बहुत कठिन है *। जो इस प्रकार इन्द्रिय बोधको ही बोध मानता है, इन्द्रिय प्रत्यक्षको ही वस्तु मानता है, उसके लिये अदृष्टमें विश्वास करना, अदृष्टके लिये उद्यम करना बहुत मुशकिल है।

धर्म दृष्टि लोक दृष्टिसे भिन्न है:—

लोककी इस दृष्टिमें और धर्मकी दृष्टिमें बड़ा अंतर है—ज़मीन आस्मानका अन्तर है। इनमें यदि कोई समानता है तो केवल इतनी कि दोनोंका अन्तिम उद्देश्य एक है—दुख-निवृत्ति, सुख-प्राप्ति। इसके अतिरिक्त दोनोंमें विभिन्नता ही विभिन्नता है। दोनोंकी सुख-दुःख की मीमाँसा भिन्न है। दोनोंका निदान भिन्न है। दोनों का निदान-साधन भिन्न है। दोनोंकी चिकित्सा भिन्न है दोनोंकी चिकित्सा-विधि भिन्न है और दोनोंके स्वास्थ्य-मार्ग भिन्न हैं।

पहिली दृष्टि आनन्द, सुन्दरता, वैभव और शक्ति का आलोक बाह्य जगतमें करती है, दूसरी इनका

---

† अन्धभूतो अयं लोको तनुकेत्थ विपस्सति
—धम्मपद ॥ १७४

‡ (अ) "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् —कठ० उप० ४. १.

(आ) बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥
—समाधितंत्र ॥ ७ ॥

† कठ० उप० २. ६; तैत० उप० २. ६. १.

‡ मोक्ष प्राभृत ॥ ८, ११ ॥ योगसार ॥ ७ ॥

* मज्झिमनिकाय २६वां सुत्त।

आलोक अन्तरात्मामें करती है। पहिली बाह्यलोकको महान् और आशावान मानती है; दूसरी अन्तःलोकको महान् और आशावान ठहराती है। पहिली बाह्यलोकके प्रति कामना, आसक्ति, परिग्रहका व्यवहार करना सिखाती है; दूसरी बाह्य लोकके प्रति प्रशमता, उदासीनता और त्यागका वर्ताव बतलाती है।

पहिलीकी भावना है धन-धान्यकी प्राप्ति, सन्तानकी प्राप्ति, दीर्घ आयुकी प्राप्ति, आरोग्यकी प्राप्ति, पितृलोक और स्वर्ग लोककी प्राप्ति †। दूसरीकी भावना है सत् की प्राप्ति, ज्ञानकी प्राप्ति, उच्चताकी प्राप्ति, अनन्तकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति, अमृतकी प्राप्ति, अपवर्ग की प्राप्ति ‡।

पहिलीके लिये प्रश्न हल करनेका साधन, तत्त्व-निर्णय करनेका प्रमाण इन्द्रिय-ज्ञान है, बुद्धि-ज्ञान है, दूसरीके लिये जाननेका साधन, निर्णय करनेका प्रमाण अन्तर्ज्ञान है, श्रुतज्ञान है।

पहिलीके लिए जीवनका विधाता, आत्मासे भिन्न, आत्मासे बाहिर प्राकृतिक शक्ति है—शक्तियोंके अधिष्ठाता देवी देवता हैं, देवी देवताओंके नायक ईश्वर हैं। दूसरीके लिए जीवनका विधाता—जीवनका अधिष्ठाता स्वयं आत्मा है, आत्माके ही शुभाशुभ भाव हैं, शुभाशुभ कर्म हैं। ये ही जीवनमें सुख-दुःख, उत्थान-पतन उच्चगति-नीचगतिके करने वाले हैं *। आत्मा ही संसारका हेतु है, आत्मा ही संसारका उच्छेदक है, आत्मा ही आत्माका मित्र है, आत्मा ही आत्माका शत्रु है ×।

पहिलेके लिए दुःखका कारण बाह्य शक्तिका प्रकोप है, देवी-देवताओंका प्रकोप है, ईश्वरका प्रकोप है, दूसरीके लिए दुःखका कारण स्वयं आत्माकी दूषित वृत्ति है, उसकी अपनी विपरीत श्रद्धा, अज्ञान-अविद्या, मोह-तृष्णा है।

धर्मका मार्ग लोक मार्गसे भिन्न है:—

पहिलीके लिए दुःख निवृत्तिका उपाय दुःखविस्मृति है, अज्ञान है, निद्रा-तन्द्रा है, सुरापान है। दूसरीके लिए दुःख निवृत्तिका उपाय ज्ञान है; दुःखको साक्षात् करना है, दुःखके कारणोंको जानना है, उन कारणोंका विच्छेद करना है।

पहिलीके लिए दुःख निवृत्तिका उपाय बाह्य शक्तियों—देवी-देवताओं ईश्वरकी—याचना-प्रार्थना है, पूजा वंदना है, भक्ति-उपासना है। दूसरीके लिए दुःख निवृत्तिका उपाय आत्म-विश्वास है, आत्म-पुरुषार्थ है, आत्म-शक्ति है। जो आत्माकी शरण जाता है, आत्माके लिए ही सब कुछ समर्पण करता है, वह दुख नहीं पाता †। जो बाह्य देवी देवताओंकी उपा-

† अथर्व० ६. १२०. ३। यजु० १९. ३७। ऋग्वेद १०. १११.४। अथर्व १२.१।

‡ (अ) असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमयेति—छा० उप०८.१४

(आ) अमृतस्य देवधारणो भूयासम्"
—तैत० उप०१.४.१.

* धम्मपद ॥ १६५ ॥, सामायिकपाठ ॥ ३० ॥ समयसार ॥ १०२ ॥ कोशिकी. उप० १.२, कठ० उप० २.२, ७, श्वेताश्वतर० उप० १.२,३

× गीता ६.५; निर्ग्रन्थप्रवचन १.३.

† द्वादशानुप्रेक्षा ॥ ११ ॥

सना करता है, वह धर्म तत्वको नहीं जानता, वह देवताओंके पशुके समान है ‡।

पहिलीके लिये दुःख निवृत्तिका उपाय प्राकृतिक विजय है, लौकिक विजय है। उसका साधन वशीकरन मन्त्रतन्त्र है वैज्ञानिक आविष्कार है। दूसरीके लिये दुःख-निवृत्तिका उपाय आत्म-विजय है। उसका साधन इन्द्रिय-संयम है, मन-वचन कायका वशीकरण है, आध्यात्मिक शिल्प है।

पहिलीके लिये सुखका मार्ग इच्छावृद्धि है; परिग्रह-वृद्धि है, भोगवृद्धि है। दूसरीके लिए सुखका मार्ग इच्छात्याग है, परिग्रहत्याग है, भोगत्याग है।

पहिलीके लिए सुखका मार्ग अहंकार, विज्ञान और विषयवेदनामें बसा है। दूसरीके लिये सुखमार्ग साम्यता, अन्तर्ध्यान और अन्तर्लीनतामें रहता है।

पहिलीका मार्ग प्रवृति मार्ग है। दूसरीका मार्ग निवृत्ति-मार्ग है। पहिलीका फल संसार है, दूसरीका फल मोक्ष है।

जो जैसी श्रद्धा रखता है वैसी ही कामना करता है, जैसी कामना करता है वैसा ही मार्ग ग्रहण करता है, वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसा ही संस्कार, वैसी ही शक्तिको उपजाता है, वैसा ही वह हो जाता है †।

प्रकृतिमें विश्वास रखने वाला प्रकृतिरूप हो जाता है। पशुपक्षियोंकी अज्ञानमय भोगदशाको पसन्द करने वाला पशु पक्षिरूप हो जाता है। देवताओंमें श्रद्धा रखने वाला देवतारूप, पितरोंमें श्रद्धा रखने वाला भूतप्रेतरूप होजाता है। और आत्मामें श्रद्धा रखने वाला आत्मस्वरूप होजाता है †।

इस तरह बाह्य दृष्टि वाला संसारकी ओर चला जाता है और अन्त दृष्टिवाला मोक्षकी ओर चला जाता है। संसारका मार्ग और है और मोक्षका मार्ग और है*।

संसार-मार्गसे चलकर धन-दौलतकी प्राप्ति हो सकती है, परिग्रह आडम्बरकी प्राप्ति हो सकती है, भोग उपभोगकी प्राप्ति हो सकती है। बल वैभवकी प्राप्ति हो सकती है, मान मर्यादाकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु पूर्णताकी प्राप्ति नहीं हो सकती, सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अमृतकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

धर्म-मार्ग ही ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य लौकिक सुख, लौकिक विभूतिको प्राप्त होता हुआ अन्तमें निर्माणसुखको प्राप्त कर लेता है।

यदि पूर्णताकी इच्छा है तो सिद्ध पुरुषोंकी ओर देख, यदि अक्षय सुखकी अभिलाषा है तो निराकुल सुखी पुरुषोंकी ओर देख। यदि अमृतकी भावना है तो अमर पुरुषोंकी ओर देख। जो उनका मार्ग है उसे ही ग्रहण कर।

—❀—

‡ अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते, अन्यो ऽसौ अन्यो-ऽहम् अस्मीति, न स वेद, यथा पशुरेव स देवानाम्"
—बृह० उप० १.४.१०

† (अ) अथ खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति, स यथा कामो भवति, तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते] तदभिसम्पद्यते।
—बृह० उप० ४-४-५.

(आ) श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः—गीता १७-३.

(इ) निरुक्तपरिशिष्ट २.६;

† गीता ७.२१–२३, ९. २५.

* धम्मपद ॥ ७५ ॥

वीरशासन-जयन्ती-उत्सव

इस वर्ष वीर-सेवामंदिरमें श्रावण कृष्णा प्रतिपदा ता० २० जुलाई सन् १९४० शनिवारको वीरशासन-जयन्तीका उत्सव गत वर्षसे भी अधिक समारोहके साथ मनाया गया। नियमानुसार प्रभात-फेरी निकली, झंडाभिवादन हुआ, मध्यान्ह के समय गाजे बाजेके साथ जलूस निकला और फिर ठीक दो बजे पं० श्री० मक्खनलालजी अधिष्ठाता ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम चौरासी-मथुराके सभापतित्वमें जलसेका प्रारम्भ हुआ और वह ५॥ बजे तक रहा। जलसेमें बाहरसे सहारनपुर मुजफ्फरनगर, देहली, मथुरा, नकुड़ कैराना अम्बदुल्लापुर, जगाधरी और नानौता आदि स्थानोंसे अनेक सज्जन पधारे थे।

मंगलाचरण, तिथि-महत्व और आगत पत्रों का सार सुनानेके अनन्तर सभामें भाषणादिका कार्य आरम्भ हुआ, जिसमें निम्न सज्जनोंने भाग लिया—

ला० नाहरसिंहजी सम्पादक जैन प्रचारक सरसावा, चि० भारतचन्द्र, ओमप्रकाश, मा० रामानन्दजी गायनाचार्य, प्रो० धर्मचन्द्रजी, बा० कौशलप्रसादजी, ला० हुलाशचन्दजी, पं० रामनाथजी वैद्य, पं० राजेन्द्रकुमारजी कुमरेश, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, सौ० इन्द्रकुमारी 'हिन्दीरत्न' शारदादेवी और सभाध्यक्ष पं० मक्खनलालजी।

भाषणोंमें प्रो० धर्मचन्दजी, बा०कौशलप्रसादजी, मुख्तार साहब और सभापति महोदयके भाषण बहुत ही प्रभावक एवं महत्वके हुए हैं। इन भाषणोंमें वीर-शासनके महत्वका दिग्दर्शन करानेके साथ साथ उनके पवित्रतम शासन पर अमल करनेकी ओर विशेष लक्ष दिया गया है। वीर भगवान्‌के अहिंसा आदि खास सिद्धान्तोंका इस ढँगसे विवेचन किया गया कि उससे उपस्थित जनता बड़ी ही प्रभावित हुई। और सभीके दिलों पर यह गहरा प्रभाव पड़ा कि हम वीर-शासनकी वास्तविक चर्यासे बहुत दूर हैं और उसे अपने जीवनमें ठीक ठीक न उतार सकनेके कारण ही इतनी अवनत दशाको पहुँच गये हैं। जब कि वीरकी अहिंसा और सत्यके एक अंशका पालन करनेसे गाँधीजी महात्मा हो गये और सारे संसारकी दृष्टिमें प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए, तब वीरके उन अहिंसा और सत्य आदि सिद्धान्तोंका पूर्णतया पालन करके-उन्हें अपने जीवनमें उतार कर अथवा वीरके नक़्शे क़दम पर चल करके— संसारका ऐसा कौनसा प्रतिष्ठित पद है जिसे हम प्राप्त न कर सकें। फिर भी हम वीरशासनके रहस्यको भूले हुए हैं—उसके अनेकान्त और स्याद्वाद सिद्धान्तसे अपरिचित हैं—इसी कारण हम वीर-शासनका स्वयं आचरण नहीं करते और न दूसरोंको ही करने देते हैं; मात्र उसे अपनी वपौती समझ कर ही प्रसन्न हो रहते हैं! जो शासन संसारके समस्त धर्मोंसे श्रेष्ठतम, अवाधित एवं सुखशान्तिका मूल है, जिससे दुनयाके सभी

Regd. No. L. 4328.

विरोधोंका समन्वय हो सकता है तथा जो जीवात्माकी प्रगति एवं विकासका खास साधन है और जिसका आश्रय पाकर अधमसे अधम मनुष्य एवं पशु-पक्षी तक सभी जीव अपनी आत्माका उत्थान कर सकते हैं उसमें हम अनाभिज्ञ रहें, उसे स्वयं अमलमें न लाएँ और न दूसरोंको ही उस पर अमल करने दें, यह कितनी बड़ी लज्जा एवं खेद की बात है ! ऐसी हालतमें हमारा अपनेको वीरका अनुयायी उपासक या सेवक बतलाना कितना हास्यजनक है उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं रहती । वीर-शासनका सच्चा उपासक या अनुयायी वही हो सकता है जो वीरके नक़्शे क़दम पर चलता हो । अथवा उनके सिद्धान्तों पर स्वयं अमल करता हुआ दूसरोंको भी अमल करनेके लिये प्रेरित करता हो, और जो अमल करनेको उद्यमी हो उन्हें सब प्रकारसे अपना सहयोग प्रदान करता हो और इस तरह तन मन धनसे वीरके सिद्धान्तोंका प्रचार करने करानेके लिये कटिबद्ध हो ।

भाषणोंका जनता पर अच्छा असर पड़ा और उसने अपनी भूल तथा ग़लतीको बहुत कुछ महसूस किया ।

भाषणोंके अतिरिक्त गायनोंका भी अच्छा आनन्द रहा । मा० रामानन्दजीका महावीरके जीवन सम्बन्धमें बहुत ही अच्छा गायन और प्रभावक उपदेश हुआ । चि० भरतचन्दका गायन बहुत ही सुन्दर एवं चित्ताकर्षक था । चि० भरतचन्दकी अवस्था इस समय १२ वर्षकी है, इतनी छोटीसी वयमें वह गायनकलामें प्रवीण विद्वानकी भाँति मनोमोहक गाना गाता है । उसकी आवाज़ बहुत ही मधुर और सुरीली है और वह एक होनहार बालक जान पड़ता है । उसका भविष्य उज्ज्वल हो यही हमारी भावना है । इस तरह यह जलसा बहुत ही शानदार एवं प्रभावक हुआ है ।

—परमानन्द जैन शास्त्री

वीर-सेवामन्दिरको सहायता

हालमें वीरसेवा मन्दिर सरसावाको निम्न सज्जनोंकी ओरसे ४८ रु० की सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

२१) ला० मुरलीधर बनवारीलाल जैन कचौरा जि० इटावा (पिताश्रीके स्वर्गवासके समय निकाले हुए दानमेंसे)
१५) ला० विश्वम्भरदास जिनेश्वरदास बजाज मैंसी जि० मुज़फ्फरनगर (वेदी प्रतिष्ठाके अवसर पर) ।
७) ला० बारूमल उग्रसैन जैन, जगाधरी जि० अम्बाला (पुत्र विवाहकी खुशीमें)
५) ला० मनोहरलाल ताराचन्द जैन आढ़ती बड़ौत जि० मेरठ (विवाहकी खुशीमें)

४८)

अधिष्ठाता—'वीरसेवामंदिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर ।

'वीर प्रेस ऑफ इण्डिया' कनॉट सर्कस न्यू देहली में छपा ।